भारतीय दर्शन में भौतिकवाद

गिरधारीलाल व्यास

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, प्रा. लि.,
चमेलीवाला मार्केट, एम.आई. रोड, जयपुर-302001

साहसी, स्वतंत्र
और
संघर्षरत विचारकों को

पढ़ने-पढ़ाने और समझने-समझाने की प्रक्रिया में साक्षात्कार हुआ—वेदकालीन पौरोहित्य पूजा पद्धति के सामने आयुर्वेदिक चिकित्सा विज्ञान का, उपनिषदीयता के सामने बौद्ध प्रतीत्य समुत्पाद एवं जैन अनेकांतवाद-स्याद्वाद का, अज्ञेयता के सामने सांख्य के तत्ववाद और योग के व्यवहारवाद का, अद्वैत वेदांत के मायावाद के सामने विशिष्टाद्वैत से उद्भूत भक्ति आंदोलन व सूफीवाद का तथा इसी तरह भारत की प्रत्येक आध्यात्मवादी दर्शन पद्धति के सामने संघर्षरत किसी न किसी भौतिकवादी दर्शन पद्धति का। इस तरह भारत में समसामयिक प्रत्येक कालखंड में आध्यात्मवाद और भौतिकवाद के घटक आमने-सामने विरोधी तेवर में खड़े हैं। स्वभावतः भारत के दर्शन में व्याप्त इस द्वन्द्व पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता महसूस हुई। अतः यहां भारतीय दर्शन में भौतिकवाद की अवधारणाओं पर ध्यान को आकर्षित/केन्द्रित करने का प्रयास किया गया है।

लेखक ने संदर्भानुसार जिन स्रोत कृतियों का आश्रय लिया है—वह उन कृतियों और ज्ञात-अज्ञात कृतिकारों के प्रति विनम्र आभार व्यक्त करता है।

— गिरधारीलाल व्यास

अनुक्रम

दर्शन:- वह ज्ञान जो देखने से मिले। व्यापक अर्थ है—पांच ज्ञान प्राप्त करने की इन्द्रियों (जैसे—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा) से किसी वस्तु के रूप, ध्वनि, गंध, रस और स्पर्श का ज्ञान, पांच काम करने की इन्द्रियों (जैसे—वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ) से बोलने, छूने, चलने, बाहर निकालने और संभोग करने का अनुभव, तथा मन से मनन या महसूस करने, मस्तिष्क से सोचने-विचारने और अहंकार से अपनेपन-परायेपन के संबंध तय करने व अन्यान्य कृत्रिम साधनों से जड़ और चेतन जगत् के बाहर और भीतर के या सत (सद्)- असत (असद्), अस्तित्व-अनस्तित्व के ज्ञान-संज्ञान के शास्त्र या विज्ञान को 'दर्शन'- 'दर्शनशास्त्र' या 'तत्त्वज्ञान', 'फलसफा' कहा जाता है। इसी को अंग्रेजी में 'फिलोसोफी' (Philosophy) अथवा अन्यान्य भाषाओं में तदनुसार नामों से पुकारा जाता है। इसमें निरीक्षण (Observation), वर्गीकरण, (Classification), विश्लेषण (Analysis), आलोचन, समीक्षण, तार्किकीकरण, संश्लेषण, प्रयोग, अनुसंधान, शोध, नवाचार आदि विधियां अपनायी जाती हैं। कालक्रम के अनुसार विविध देशों के प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक या समसामयिक दर्शन के मतमतांतरों पर विचार किया जाता है।

ब्रह्मांड :- समस्त विश्व, सारा संसार, सृष्टि, रचना, यूनिवर्स (Universe), जो है वह सब कुछ (सारा अस्तित्वमान भौतिक जगत्), काल में शाश्वत, गतिशील, देश में असीम और भूतद्रव्य द्वारा अपने विकास-क्रम में ग्रहण किए हुए रूपों में अंतहीन विविधताओं से भरा हुआ, अंतरिक्ष विज्ञान या खगोल विद्या जिस सबका अध्ययन-विषय है; वह 'ब्रह्माण्ड', है, जिसे 'महा आकाशगंगा' भी कहते हैं। सारी जड़-चेतना प्रकृति उसमें समाहित है।

यह दर्शन का एक प्रमुख विचार बिन्दु है।

भूतद्रव्य :- जड़ या चेतन पदार्थ, प्रकृति, छोटी से छोटी वस्तु जैसे, अणु-

परमाणु से लेकर बड़ी से बड़ी ठोस, तरल, वायवीय, चल-अचल वस्तु जो बिना यंत्रों के दिखाई दे या न दिखाई दे वह अर्थात् जो है या अस्तित्वमान है, जो है, सदा से रहा है और सदा रहेगा, जिस सबको न बनाया जा सका है या न बनाया जा सकता है और न ही कभी मिटाया गया है या मिटाया जा सकता है, जिसे किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता, जिसे दर्शन में शाश्वत, अरचनीय, अविनाशी और असीम कहा जाता है; वह भूतद्रव्य है। वह गतिशील है, विकासमान है, परिवर्तनशील है। देश और काल उसके अस्तित्व के रूप हैं और परिवर्तन उसका सार्विक अनुगुण है। प्राथमिक कण और क्षेत्र, अणु, परमाणु, विभिन्न आकाशों के सूक्ष्म पिंड, भू-वैज्ञानिक प्रणालियां, ग्रह, तारे, आकाशगंगाएँ और उनकी आंतरिक एवं बाह्य प्रणालियां, सौर परिवार, विशेष प्रकार की भौतिक प्रणालियां, जीवित भूतद्रव्य अर्थात् स्वयमेव स्वपुनरुत्पादन में सक्षम जीवित अंगी और सामाजिक रूप में संगठित भूतद्रव्य (समाज) सभी उसमें समाहित हैं। ब्रह्माण्ड के समान भूतद्रव्य भी दर्शन का केन्द्रीय विचार बिन्दु है।

चेतना :- होश, संज्ञा, बुद्धि, बोध, मनोवृत्ति-स्मृति, सावधानी, संवेदना, महसूस करना, अनुभूति, सोचना, समझना, विचारना, विश्लेषण करना आदि को सामान्य अर्थ में चेतना कहा जाता है। वह दर्शन, समाज विज्ञान तथा मनोविज्ञान की एक प्रमुख संकल्पना है, जो मनुष्य में वास्तविकता को दुबारा पैदा कर सकने की योग्यता के रूप में उजागर होती है। वह गतिशील होती है। वह वाणी, भाषा, विचार, भाव और व्यवहार के साथ जुड़ी रहती है। वह विकसित मनुष्य के वैज्ञानिक, *सौंदर्यबोधक, व्यापारपरक क्रियाकलापों तथा व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यात्मक* सर्जनाओं अर्थात् दर्शन, धर्म, विज्ञान, कला, नैतिकता, राजनीति और कानून आदि क्षेत्रों में विकसित प्रतिभा के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाती है। वह भी दर्शन का एक आवश्यक विचार क्षेत्र है।

जिज्ञासा :- साधारणतः जानने या ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा, पूछताछ, प्रश्न, कुतूहल या आशंका पैदा होना जिज्ञासा कहलाता है। दर्शन की जिज्ञासा का विषय भूतद्रव्य और चेतना में प्राथमिकता को तय करना है। विश्व में केवल भूतद्रव्य और चेतना ही अस्तित्वमान हैं। दोनों में अंतःसंबंध भी है और अंतर्विरोध या परस्पर भिन्नता भी। (**भूतद्रव्य**— प्रकृति और उससे विकसित जैविकता। **चेतना**— अनुभूति, कल्पना, भावना, विचार आदि। वस्तुतः दोनों का सहअस्तित्व ही यह संसार सार है। भूतद्रव्य और चेतना के अलावा और किसी भी अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है।) प्रश्न पैदा है—ब्रह्माण्ड या विश्व अथवा सृष्टि के स्वरूप में प्राथमिक क्या है— भूतद्रव्य या चेतना अथवा यों पूछा जा सकता है कि क्या भूतद्रव्य चेतना को जन्म देता है अथवा चेतना भूतद्रव्य की जन्मदाता है। यह जिज्ञासा दर्शन के मूल प्रश्न का एक

पक्ष है और इसी का दूसरा पक्ष है—क्या यह विश्व ज्ञेय है अर्थात् क्या हम इस जगत् को, उसके विकास के नियमों को समझ सकते हैं अथवा वह अज्ञेय है और यह एक ऐसा रहस्य है जो कभी उजागर नहीं किया जा सकता। ये दोनों पक्ष मिलकर दर्शन का एक ही आधारभूत प्रश्न या बुनियादी सवाल बनता है, वह है—"विश्व के अस्तित्व के साथ पदार्थ और चेतना का क्या संबंध है?" और खुलासा करने पर इसके दो पहूल बनते हैं:—

(1) क्या विश्व का भौतिक अस्तित्व सदा से रहा है अथवा विश्व का निर्माण किसी परम चेतना या ईश्वर ने किया है? दूसरे तरीके से यह पूछा जा सकता है कि विश्व के अस्त्वि में प्राथमिकता किस तत्त्व की है—भूतद्रव्य की या चेतना (परम चेतना, परमात्मा या ईश्वर) की?

(2) क्या अस्तित्वमयता को समझा जा सकता है या विश्व के होने के नियमों की खोज की जा सकती है अथवा क्या विश्व ज्ञेय है? या अस्तित्वमयता में स्वयं में कोई तारतम्य नहीं है, अस्तित्व नियमरहित, स्वत:स्फूर्त्त, ईश्वरेच्छा या ईश्वरीय सृष्टि है जो अज्ञेय है और वह जब चाहेगा उसे मिटा देगा। अथवा यह संसार जिसे अस्तित्वमान देखा-समझा जाता है—वह सब माया है, भ्रम है, धोखा है, स्वप्नजाल है। सत्य केवल ब्रह्म है जो ज्ञान से परे है, अज्ञेय, अगोचर और अगम्य है—नेति-नेति है।

दो पहलुओं वाली इस जिज्ञासा ने दर्शन को दो चिंतनधाराओं में विकसित किया है—भूतद्रव्य की प्राथमिकता की मान्यता ने भौतिकवाद को और चेतना की प्राथमिकता की मान्यता ने आदर्शवाद (आध्यात्मवाद, भाववाद, प्रत्ययवाद आदि) को। प्राथमिकता के प्रश्न ने ही दर्शन में द्वन्द्वात्मकत्व का प्रादुर्भाव किया।

भौतिकवाद :- एक दार्शनिक प्रवृत्ति है। इसके अनुसार विश्व भौतिक है। वह चेतना से अलग वस्तुगत स्वरूप में अस्तित्वमय है। विश्व के विकास में भूतद्रव्य प्राथमिक है। इसे किसी चेतना, परम चेतना या ईश्वर ने नहीं बनाया। वह शाश्वत है। चेतना, चिंतन भूतद्रव्य का विकसित स्वरूप है, उसका अनुगुणा भौतिकवाद के अनुसार इस विश्व के विकास के नियम हैं जिन्हें जाना-समझा जा सकता है, अत: विश्व ज्ञेय है।

भौतिकवाद आध्यात्मवाद की विरोधी प्रवृत्ति है। भौतिकवाद और आध्यात्मवाद का संघर्ष दर्शन के प्रारम्भ के साथ चला आ रहा है। भौतिकवाद के ऐतिहासिक रूपों में शामिल हैं—प्राचीन पूर्व के भौतिकवादी मत (लोकायत-चार्वाक, मक्खलि गोशाल, अजित केशकंबलि, कपिल आदि का दर्शन), पुरातन यूनानी भौतिकवाद (डेमोक्राइटस, एपीक्यूरस आदि), पुनर्जागरण काल का भौतिकवाद (बेर्नार्दीनो तेलेसियो, ज्योर्दानो ब्रूनो), 17वीं 18वीं सदियों का अधिभूतवादी (यांत्रिक)

भौतिकवाद (गैलीलियो गैलीली, फ्रांसिस बेकन, हॉब्स, लौक, स्पिनोजा), फ्रांसीसी (लामीत्री, हेल्वेलियस, हॉलबाख दिदेरो), मानव वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (हेगेल, लुडविग फायरबाख), रूसी क्रांतिकारी जनवादी भौतिकवाद (बेलीन्स्की, हर्जेन, चेर्निशेव्स्की, दोब्रोल्यूकोव), द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद (कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, लेनिन आदि), और एस.ए. डांगे, राहुल सांकृत्यायन, देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, के. दामोदरन आदि भारत के आधुनिक दार्शनिक विचारक।

आदर्शवाद— इसे आध्यात्मवाद, प्रत्ययवाद, भाववाद, भावनावाद, चेतनावाद, सर्वबुद्धिवाद (Panlogism) सर्वसंकल्पवाद (Voluntarism), अद्वैतवाद, द्वैतवाद, बहुत्ववाद, तर्कबुद्धिवाद, अनुभववाद या इन्द्रियानुभववाद, दृश्यप्रपंचवाद, नवप्रत्यक्षवाद, अस्तित्ववाद (Existentialism), ईश्वरवाद, तटस्थ ईश्वरवाद (Deism) आदि नाम रूपों में भी जाना-पहचाना जाता है। जैवलि, याज्ञवल्क्य, प्लेटो, शंकराचार्य, रामानुज, जार्ज बर्कले, डेविड ह्यूम, विवेकानन्द, गांधी, इकबाल, अरविन्द आदि प्रमुख आदर्शवादी या आध्यात्मवादी चिंतक रहे हैं। अरस्तू, कोपर्निकस, कांट, हेगेल, फायरबाख, राधाकृष्णन आदि अंशतः आदर्शवाद और अंशतः भौतिकवाद के विचारक रहे हैं।

दर्शन का संबंध—प्रकृति विज्ञान, भौतिक-रासायनिक-जैविक विज्ञान, अर्थशास्त्र, गणित, मानवविज्ञान, समाजविज्ञान, इतिहास, पुरातत्व, धर्म, नीति, जादू, राजनीति, तर्क, भाषा विज्ञान, ललितकलाएँ, भूगोल, खगोल, मनोविज्ञान, चिकित्सा आदि।

दर्शन के प्रवर्ग—भूतद्रव्य, गति, देश और काल, मात्रा और गुण, विराम, कार्य-कारण, संयोग और आवश्यकता, आकार और अन्तर्वस्तु, वास्तविकता और संभावना एवं सार और आभास।

विकास— (1) क्रमिक—प्रकृति, समाज और चेतना के किसी भाग में धीरे-धीरे मात्रात्मक परिवर्तन का होना क्रमिक विकास होता है।

(2) क्रान्तिकारी विकास—मात्रात्मक से गुणात्मकता में परिवर्तन का होना, क्रांतिकारी विकास कहलाता है। कोई भी विकास ऊर्ध्वगामी होने पर प्रगतिशील होता है और निम्नगामी या प्रतिगामी होने पर प्रतिक्रियावादी।

सत्य—वस्तुगत (Objective) और आत्मगत (Subjective) होता है। (1) वस्तुगत—मानव चेतना से स्वतंत्र और बाहरी यानी भौतिक जगत् में जैसा है, ठीक वैसा ही प्रतिबिंबित होता है। (2) आत्मगत—आत्मगत सत्य मानव चेतना के अनुसार उसे प्रतिबिंबित करता है।

सापेक्ष सत्य में निरपेक्ष ज्ञान का तत्त्व अवश्य होता है। सत्य हमेशा मूर्त होता है, अमूर्त सत्य का अस्तित्व नहीं होता। सार सत्य का परिणाम है, तो व्यवहार सत्य

की कसौटी है।

सिद्धांत—ज्ञान के किसी क्षेत्र में बुनियादी विचारों की एक प्रणाली को सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। यह वास्तविकता के नियमों और मौलिक संयोजनों की एक पूरी तस्वीर पेश करने वाले वैज्ञानिक ज्ञान का एक रूप होता है जिसकी सच्चाई की कसौटी और उसके विकास का आधार व्यवहार के रूप में अभिव्यक्त होता है।

विश्वदर्शन—विश्वदर्शन प्रकृति, समाज और चिंतन के विकास का विश्व दृष्टिकोण है। वह जिस बुनियादी सवाल पर विचार करता है, वह है—भूतद्रव्य तथा आत्मा के, सत्व और चेतना के बीच संबंध एवं विश्व की संज्ञेयता इसकी व्याख्या में उसकी अंतर्वस्तु दो भागों में बंट जाती है—भौतिकवाद और आध्यात्मवाद। हजारों सालों से इन दोनों धाराओं में वैचारिक संघर्ष चल रहा है। यह संघर्ष वाद-प्रतिवाद, खंडन-मंडन जैसी तार्किक भूमि पर तो चलता ही चला आ रहा है, अपितु व्यावहारिक स्तर पर भी चलता चला आ रहा है। उदाहरणस्वरूप प्राचीन भारतीय दर्शन में ही आध्यात्मवादियों ने भौतिकवादी लोकायत दर्शन की रचना को जला दिया या किसी तरह नष्ट कर दिया। इसके अलावा व्यावहारिक संघर्ष के अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। विश्व दर्शन के सत्ता-मीमांसा (सत्व, सत् या अस्तित्व का मत) और ज्ञान-मीमांसा (संज्ञान सिद्धांत) तथा तर्क और नीतिशास्त्र जैसे मुख्य क्षेत्र हैं जो दर्शन के इतिहास के विविध आयामों में निर्मित हुए हैं।

विविध दार्शनिक विवेचनाओं में जिन विरोधी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ है उनमें द्वन्द्ववाद और अधिभूतवाद, तर्कबुद्धिवाद और अनुभववाद (इन्द्रियानुभववाद), भौतिकवाद और आध्यात्मवाद, नियतत्ववाद और अनियतत्वाद आदि प्रमुख हैं।

दर्शन के ऐतिहासिक रूपों में शामिल हैं—प्राचीन भारत, चीन और मिस्र के दार्शनिक मत, पुरातन यूनानी दर्शन या दर्शन का क्लासिकी रूप, मध्ययुगीन दर्शन—पादरी दर्शन (ईसाइयों का) और बाद में स्कॉलैस्टिक आधुनिक काल का यूरोपीय दर्शन।

आध्यात्मवाद के आधुनिक प्रकार—नवप्रत्यक्षवाद, व्यवहारवाद, अस्तित्ववाद, व्यक्तिवाद, संवृतिशास्त्र, नव टॉमसवाद आदि।

भौतिकवाद—वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद।

भारतीय दर्शन— प्रारम्भ लगभग 2500 ई.पू. (मानवविज्ञान के अनुसार सामाजिक विकास की 'सभ्यता' की अवस्था से— समकालीन दर्शन— भारत, मिस्र, चीन, यूनान)।

1. सिन्धु घाटी की सभ्यता—हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, कालीबंगा आदि की पूर्वकालिक एवं बाद की सभ्यता का आदिम सोच

2. गणचिन्ह, जादू और धर्म
3. वेद और उपनिषद्
4. आदि भौतिकवाद और आदर्शवाद
5. लोकायत-चार्वाक
6. जैन और बौद्ध
7. षट्दर्शन—सांख्य, वैशेषिक, न्याय, योग, मीमांसा (पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा) और वेदांत
8. गीता
9. मध्यकालीन अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत
10. शैव और शक्ति
11. आध्यात्मवाद और भौतिकवाद में एकतत्ववाद
12. सूफी रहस्यवाद
13. भक्ति दर्शन और भक्ति आन्दोलन
14. आधुनिक चिंतन—राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, हेनरी डेरोजिओ, दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, सुधारवाद और धार्मिक पुनरुद्धारवाद, उदारवाद, उग्रवाद, बालगंगाधर तिलक, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ, इकबाल, महात्मा गांधी, राधाकृष्णन, जवाहरलाल नेहरू, मार्क्सवाद का प्रभाव, लेनिन और प्रगतिवाद का प्रभाव—एम.एन. राय, एस.एस. डांगे, राहुल सांकृत्यायन, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, कोशांबी, के.दामोदरन, सरदेसाई आदि।
15. दार्शनिक आदान-प्रदान और नवाचार
16, भारतीय दर्शन के स्रोत और उसका विकास
17. दर्शन में प्रक्षेपण और विकृतीकरण की प्रक्रिया
18. द्वन्द्व, संघर्ष और संभावना।

पक्षधरता—वर्गीय समाज में पक्षपातिता या प्रतिबद्धता के दृष्टिकोण का होना अनिवार्य हो जाता है, नितांत निरपेक्षता पाखण्ड के अलावा और कुछ नहीं होती। यही वह बिन्दु है जो वैचारिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के संघर्षों के केन्द्र में होता है। वर्गसंघर्ष में तटस्थ कोई नहीं होता, किसी न किसी रूप में हरेक को हिस्सा लेना ही होता है। अध्यात्मवाद हमेशा शोषक वर्ग के हित में समर्पित रहता है और रहेगा और द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद (मार्क्सवाद) शोषित वर्ग के पक्ष में खड़ा होता है और वर्गभेद कायम रहने तक रहेगा।

भारतीय दर्शन के स्रोत

(क) भारतीय सभ्यता का स्तरीय अध्ययन

I. (1) लगभग 4 लाख वर्ष ई.पू. से 2 लाख वर्ष ई.पू./द्वितीय अन्तर-हिमयुग/पुरा पाषाण युग, स्थान—उत्तर में सोअन घाटी (अब पाकिस्तान में) और दक्षिण में मद्रास के आसपास के इलाकों में, मानव—खानाबदोश (खाद्यसंग्रहक), उपकरण—राह में मिले खुरदरे पत्थरों का इस्तेमाल।

(2) 2 लाख वर्ष ई.पू. से 40,000 वर्ष ई.पू. आग पर नियंत्रण, कुत्तों को पालना तथा पशु चर्म, पेड़ों की छाल और उनके पत्तों के उपयोग से शरीर रक्षा, पत्थर के उपकरण बनाना।

(3) 10,000 साल ई.पू. से 6000 साल ई.पू., अन्न उपजाना, पशुपालन, बर्तन बनाना, कपड़ा बुनना, पॉलिशदार पत्थर के उपकरणों का निर्माण।

(4) 3,500 ई.पू. नव प्रस्तरयुग का मानव समुदाय, भारत का उत्तर-पश्चिम क्षेत्र, दक्षिण का कुछ हिस्सा, मध्य और दक्षिणी बलूचिस्तान तथा सिन्ध (दोनों क्षेत्र पाकिस्तान में)।

(5) आमरी सभ्यता- उसके विकास के बाद सिन्धुघाटी सभ्यता अथवा हड़प्पा-सभ्यता : विविध नस्लों के आवागमन और उनके सम्मिश्रण से आदिम भारतीय का आधुनिक संस्करण—प्रोटो-आस्ट्रेलाइड, पैलियो-मेडिटेरेनियन, काकेशसाइड और मंगोलियन।

II. वैदिक या आर्यसंस्कृति— 1500 ई.पू. और उसके बाद से (वर्गीय समाज के अन्तर्गत वर्ण-व्यवस्था का उदय) तथा साथ-साथ .....

III. जैन-बौद्ध धर्म और चिंतन

IV. जनपदीय राज्य तंत्र

V. विदेशी आक्रमण—मध्यकालीन भारत

VI. आधुनिक युग—उपनिवेशवादी शोषण, स्वतंत्रता संग्राम और स्वतंत्र भारत।

VII. विशेष—

(क) जातियाताओं का संकरण—आर्य, फारसी, यूनानी, हूण, अरब, तुर्क, अफ्रीकी, मंगोली, यूरोपीय

(ख) भाषाएं—लगभग 325

(ग) लिपियां—25

(घ) भाषा परिवार—इंडोआर्यन, तिब्बती-बर्मी, भारोपीय, द्रविड़, आस्ट्रेशियाई, अंडमानी, इंडोईरानी

(ख) लोगों के आवागमन के प्रवाह, आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक जीवन में होते जाने वाले परिवर्तन/उपर्युक्त सभ्यताओं-संस्कृतियों के फलस्वरूप भारत के बदलते रहते हुए भौगोलिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (जैसे कालक्रमानुसार बदलती हुई सीमाएँ और चिंतन—उदाहरणतः विभाजन के बाद भारत, पाकिस्तान, बंग्लादेश आदि)

(ग) बीसवीं सदी के विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र की उपलब्धियां—विशेषतः भौतिक, रासायनिक, जैविक, गणितीय, खगोलीय, मानववैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, तकनीकीय आदि की उछालों का चहुँमुखी प्रभाव तथा सापेक्षवाद एवं सापेक्षपश्चात् का चिंतन।

(घ) विश्वव्यापी शोध, अनुसंधान, पुरातात्विक खनन, विचारण-विश्लेषण, नवाचार संबंधी संस्थानों, प्रतिष्ठानों व शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं का विकास व उनके कार्य विवरण।

(ङ) साहित्य, कला, संस्कृति, पत्रकारिता, प्रचार-प्रसार साधन, कम्प्यूटरीकरण, विविध प्रतियोगिताओं का व्यापक विकास।

(च) अंतर्राष्ट्रीयकरण, भूमंडलीकरण और बाजारीकरण की धारणाएँ।

ध्यातव्य—

1. श्रुतिग्रंथ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद (संहिताएँ) भाष्य और टीकाएँ, ब्राह्मणग्रंथ, आरण्यक और उपनिषद् (विशेषकर ईश, छान्दोग्य, मुंडक वृहदारण्यक, ऐतरेय, तैत्तिरीय, प्रश्न, केन, कठ, मांडूक्य, श्वेताश्वर, मैत्रेय, कौषीतकि आदि)।
2. स्मृतिग्रंथ—मनुस्मृति या मनुसंहिता—सृष्टि उत्पत्ति और विकास, अर्थ, धर्म और विधि, न्याय, समाज और राजनीति आदि।
   याज्ञवल्क्य स्मृति—(विश्वकृत बालक्रीड़ा, विज्ञानेश्वरकृत मिताक्षरा, अपरादित्यकृत अपरार्क और शूलपाणिकृत दीपकणिका टीकाएँ) नारद स्मृति
3. कौटिल्य—अर्थशास्त्र, राजतंत्र, शासन-प्रशासन, न्याय।
4. वात्स्यायन—कामसूत्र के प्रणेता, न्यायसूत्र के भाष्यकार।
5. तिरुवल्लुर—महाकाव्य 'तिरु क्कुरल'—गृहस्थ और संन्यासी के आचरण, राजनीतिक विचार।
   विशेष—रामायण, महाभारत और भगवद्गीता।
6. जैन—जैनसूत्र व अन्य जैनग्रंथ, स्यादवाद-अनेकांतवाद, नीति और धर्म के स्वरूप, अहिंसा, अपरिग्रह आदि तीर्थंकर और श्रमण, जातक अजितकेश कंबली का उच्छेदवाद।

7. बौद्ध—सम्मन फल सूत्र, चार महासत्य, अष्टांग मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीवन, सम्यक् विचार, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि), अंततः इनके फलस्वरूप निर्वाण की प्राप्ति। बुद्ध और बौद्ध भिक्षु—नीति और धर्म संबंधी विचार
8. प्रभावक्षेत्र—16 महाजनपद—गांधार, कंबोज, अस्सक, वत्स, अवंती, शूरसेन, चेदी, मल्ल, कुरु, पांचाल, मत्स्य, वज्जि (व्रज्जि), अंग, काशी कौशल और मगध
9 तंत्रवाद—वामाचार और दक्षिणाचार, महायान, हीनयान।
10. दक्षिण में भावगीतों के आठ संग्रह— नट्रिणै, कुरुन्तोकै, ऐंगुरुनूरु, पतिहुपत्तु, परिप्पाटल, कलित्रोकै, अकनानुरु, पुरनानूरु
11. शैव और वैष्णव संप्रदाय
12. वेदान्त—(1) शंकर का अद्वैत वेदान्त—प्रस्थान त्रय (उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य, 'सौंदर्य लहरी' तथा ' विवेक चूड़ामणि', 'गोड़पाद कारिका' भाष्य।

    (2) रामानुजाचार्य—'श्री भाष्य', 'भगवद्गीता भाष्य', 'वेदान्त संग्रह', 'नित्यग्रंथ' और 'वेदान्त सार'

    (3) रामानंद शाखा, 'मध्व का द्वैत'—'अनुव्याख्यान'

    (4) निम्बार्क—द्वैताद्वैत—'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य, शैव और शाक्त मत
13. भक्ति आन्दोलन:- चैतन्य, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, कबीर, नानक, सूर, तुलसी, मीरां, रहीम, रसखान आदि।
14. इसलाम में रहस्यवाद—सूफीमत, सूफी संप्रदाय, रोशनिया संप्रदाय।
15. आधुनिक काल—इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, रूस व अन्य देशों के विचारकों का प्रभाव, राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, थियोसोफीकल सोसाइटी, तिलक, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ, इकबाल, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, एम.एन. राय, राधाकृष्णन, एस.एन. दासगुप्ता, राहुल सांकृत्यायन, एस.ए. डांगे, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, के. दामोदरन, कोशांबी, सरदेसाई आदि।

पारस्परिक प्रभाव—

(क) वास्तकला, मूर्तिकला, अल्पना, चित्रण, नृत्य, नाट्य, संगीत, लोकगीत, समूहगान, सज्जा, अलंकरण आदि।

(ख) लोक व्यवहार और लोक संस्कृति, नागर और ग्राम्य संस्कृति

(ग) मनोरंजन के बदलते स्वरूप

(घ) उत्पादन पद्धति, उत्पादन संबंध, व्यापार—राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, बैंकिंग और विपणन

(ङ) विधि, न्याय, संसद, कार्यपालिका

(च) राष्ट्रीयता, क्षेत्रीयता, स्थानीयता, जातीयता, गरीबी-अमीरी का अंतर

(छ) धर्म, कर्मकांड, मठ, मंदिर, आश्रम, मसजिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा, अखाड़े आदि।

(ज) पर्यटन, धर्मशाला, मुसाफिरखाना, विद्यालय, मदरसे, स्कूल, अनाथालय, विश्वविद्यालय, शोध-अनुसंधान केन्द्र आदि।

(झ) *युद्ध, हथियार, संधियां, गुलामी, आजादी*

(ञ) पौराणिक संस्कार—18 पुराणों (यथा ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मारकंडे, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मविवर्त्त, लिंग, वराह, स्कंद, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्मांड) से उत्पन्न संस्कार।

● ●

बीज का अंकुरण

दर्शन की अन्तर्वस्तु—जो है वह है समस्त अस्तित्वमान भौतिक जगत, देश या दिशा अथवा अंतरिक्ष (Space) में असीम, काल (Time) में शाश्वत और गतिमान भूतद्रव्य (Matter) द्वारा अपने विकासक्रम में ग्रहण किए हुए रूपों में अनंत विविधताओं से भरा हुआ। सारी जड़-चेतन प्रकृति इसमें समाहित है। यह ब्रह्मांड या भौतिक विश्व ही दर्शन की अन्तर्वस्तु है।

मूल प्रश्न—ब्रह्मांड की रचना में प्राथमिक क्या है—भूतद्रव्य या चेतना अथवा अदृश्य शक्ति? समस्या को इस तरह भी रखा जा सकता है कि क्या भूतद्रव्य चेतना को जन्म देता है अथवा चेतना भूतद्रव्य को। यह प्रश्न का एक पहलू है जिसका दूसरा पहलू है—क्या यह ब्रह्मांड ज्ञेय है, अथवा क्या यह अज्ञेय या अगम्य रहस्य है?

दर्शन का आधार—यह पृथ्वी और उस पर उसी से विकसित मनुष्य ब्रह्मांड की पहेली को समझने की बुनियाद है, दर्शन का प्रथम बिन्दु। 'विकसित मनुष्य' ही आद्यंत दार्शनिक है। जैविक जगत् में मनुष्य का पृथकत्व विकास की एक शिखर स्थिति है। इस स्थिति का प्रस्थान बिन्दु कहां है— इसका उत्तर इतिहास देता है।

अपनी परिधि में गतिशील पृथ्वी ने भौतिक, रासायनिक और जैविक परिवर्तनों की एक लंबी यात्रा तय की। एक पड़ाव में मानवाभ विकसित हुआ, जिसने आगे चलकर सामुदायिकता अथवा आदिम सामाजिकता का प्रादुर्भाव किया। एक और लंबी प्रक्रिया के अंतर्गत मनुष्य ने आज से दस लाख पहले अपने हाथ से अनगढ़ पत्थर को औजार बनाकर स्वयं को प्राणी जगत् से अलग कर लिया था। फ्रेडरिक एंगेल्स के अनुसार—"अत: हाथ केवल श्रमेन्द्रिय ही नहीं है, वह श्रम की उपज भी है। श्रम के द्वारा ही, नितनयी क्रियाओं के लिए अनुकूलन के द्वारा ही, इस प्रकार उपार्जित पेशियो, स्नायुओं और दीर्धतर अवधियों में हड्डियों— के विशेप विकास की आनुवंशिकता के द्वारा ही, तथा इस आनुवंशिक पटुता के नये, अधिकाधिक जटिल

क्रियाओं में पुनरावृत उपयोग के द्वारा ही मानव-हाथ ने वह उच्च परिनिष्पन्नता प्राप्त की है जिसकी बदौलत राफायल की सी चित्रकारी, थोर्वाल्देसेन की सी मूर्तिकारी और पागानीनी का सा संगीत आविर्भूत हो सका।''

('वानर के नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका'—फ्रे. एंगेल्स)
मानवविज्ञान के अनुसार इस पृथ्वी पर तीन प्रकार की महाप्रजातियों का विकास इस रूप में हुआ—

महाप्रजाति	प्रजाति (शाखा)	मानव वैज्ञानिक प्ररूप-समूह
नीग्रोसम-	नीग्रोसम (अफ्रीकी)	दक्षिण अफ्रीकी (बुशमैन)
आस्ट्रेलाय		मध्य अफ्रीकी (पिग्मी)
(विपुवतीय)		सूडानी (नीग्रो)
		पूर्वी अफ्रीकी (इथिओपियाई)
	आस्ट्रेलाय	अंडमान (नीग्रोटो)
	(ओशेनियाई)	मेलानेशियाई
		आस्ट्रेलियाई (आदिवासी)
		कुरील (आइनू)
		श्रीलंका-सुंदा (वेद्दाह)
यूरोपाय	दक्षिणी (भारत-	दक्षिण भारतीय (द्रविड़)
(यूरेशियाई)	भूमध्यसागरीय)	(अंतवर्ती समूह)
		दक्षिण-पश्चिमी एशियाई
		भूमध्यसागरीय बाल्कान (अं.स.)
		अटलांटिक-कालासागरीय (")
		पूर्वी यूरोपीय (")
	उत्तरी	
	(अटलांटिक बाल्टिक)	
मंगोलाय	उत्तरी मंगोलाय	उराली (अंतवर्ती समूह)
(एशियाई-	(एशियाई-	दक्षिण साइबेरियाई (अं.स.)
अमरीकी)	महाद्वीपीय)	मध्य एशियाई साइबेरिया (बाईकाल)
		आर्कटिक सुदूर पूर्वी (पूर्वी एशियाई)
	दक्षिणी मंगोलाय	दक्षिण एशियाई
	(एशियाई-प्रशांत	पोलीनेशियाई (अंत. स.)
	महासागरीय)	
	अमरीकी इंडियन	उत्तरी अमरीकी

मध्य अमरीकी
पातागोनियाई

स्रोत : 'मानवजाति'- प्रो. म.फ. नेस्तुर्ख

इन उपर्युक्त मानव प्रजातियों के श्रमशील समूहों ने खाद्यसंग्रहण करते हुए अपने-अपने क्षेत्र में पत्थर के हथियार वनाकर श्रम के माध्यम से सृजन चेतना के अध्याय का प्रारूप तैयार किया था जो आज तक बढ़ते हुए अंतरिक्षविज्ञान तक पहुंच गया।

'भारतीय चिंतन परंपरा' में के. दामोदरन ने लिखा है- ''करीब दस लाख वर्ष पहले विकास की प्रक्रिया से मनुष्य पशुजगत् से आगे बढ़ा। आदिम मनुष्यों अथवा वानर मानवों को, जैसा कि वैज्ञानिक लोग उन्हें कहते हैं, प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा था और इस प्रक्रिया में मनुष्य मात्र के अस्तित्व का प्राथमिक आधार श्रम है और उसका आरम्भ मनुष्य के औजार निर्माण से होता है। औजारों का निर्माण सीख कर ही प्रारम्भिक मानवों ने अपने को अन्य पशुओं से अलग किया और प्रकृति पर अपना कार्यकौशल दिखाकर उसे अपने अनुकूल परिवर्तित करना शुरू किया। इस प्रकार बाह्य जगत् पर अपना कार्यकलाप जारी रखते हुए और उसका रूप बदलते हुए उन्होंने अपना स्वभाव भी बदला और वे अपनी प्रसुप्त शक्तियों का विकास करने लगे। ज्यों-ज्यों उनका सामूहिक श्रम बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनका चिंतन और उनके विचार भी उन्नत होते गये।''

प्रोटोआस्ट्रेलाइड, पैलियो-मेडिटरेनियन, काकेशसाइड और मंगोलियाई नस्लों के परस्पर मिलने से भारतीयों ने जीवन के विविध क्षेत्रों में विश्वमंच पर सर्वप्रथम अत्यंत गंभीर और महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

फे. एंगेल्स द्वारा मोर्गन के कालविभाजन के सामान्यीकरण को आधारभूत मान लेने पर भारतीय पुरातात्विक खोजों के विवेचन में कहा जा सकता है कि जांगल युग में भारत के लोगों ने जिन वस्तुओं का उत्पादन किया था वे मुख्यत: उपभोग योग्य प्राकृतिक वस्तुओं का विनियोग सुगम बनाने वाले औजार थे और बर्बर युग में— भारतीयों ने पशुपालन एवं खेती की जानकारी प्राप्त कर ली थी और उनके अपने प्रयत्नों से उत्पादन बढ़ाने के तरीकों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पाषाण युग में भारत के सोच की यह शुरुआत थी।

मद्रास के पल्लावरम में पुरापाषणयुगीन और फिर दक्षिण भारत के वेल्लारी नामक स्थान, गुजरात, हैदराबाद, औरंगाबाद व अन्य स्थानों में उन्नत-नवपाषाण युग की सभ्यता के चिन्ह, तथा देश के कई भागों में की गई खोजों ने प्राग्ऐतिहासिक भारत की एक विशाल पाषाणकालीन संस्कृति की सृजन चेतना को प्रमाणित कर दिया था। यह सब कुछ आर्य सभ्यता के आरम्भ से हजारों वर्ष पहले घटित हो चुका था और

यह भी उतना ही बड़ा सत्य है कि कालातर में आर्यों ने इस विरासत से काफी कुछ प्राप्त भी किया। आज भी सिन्धु घाटी के मोहनजोदड़ो, चन्दुदड़ो तथा हड़प्पा आदि में प्राप्त अवशेष इस सुविकसित प्राचीन सभ्यता के अस्तित्व की कहानी कह रहे हैं।

आदिम सामुदायिक समाज के भारत में उत्पादन और उसका उपभोग सामूहिक था। व्यक्तिगत या निजी स्वामित्व का कोई अस्तित्व नहीं था। उत्पादन का उपभोग सबके लिए होता था। उसको हड़पने और चुराने की कोई गुंजायश नहीं थी। न कोई राजा या शासक था, न कोई शोषक था तथा न कोई प्रजा थी जो शोषित होने को अभिशप्त हो। न जेल थी, न कचहरी। उस समय न पुलिस थी, न सेना। उत्पादन के औजारों पर किसी एक का नहीं, बल्कि उत्पादनकर्त्ता समुदाय का स्वामित्व होता था। वर्ग या वर्ण का भेद या विभाजन नहीं था। मातृसत्ता प्रधान समाज था। यौन संबंध भी तदनुकूल थे।

पुरापापाण युग के जिन भारतीयों ने पत्थरों से हथौड़ा, छेनियो आदि औजारों का निर्माण किया था तथा आग को नियंत्रित करना और पशुपालन आरम्भ कर दिया था, उन्होंने नवपापाण युग तक अपने भौंथरे हथियारों को तेज करना और उन पर पालिश करने में महारत हासिल कर ली थी। घिसाई और पालिश करके उपकरण को सुघड़ बनाने, चिकनी मिट्टी और लकड़ी के बर्तन बनाने, अत्यंत महत्त्वपूर्ण अपितु जटिल औजार तीर-कमान का आविष्कार करने और खेती जैसे नवाचार की खोज करने की कुशलताओं को प्राप्त कर उन्होने अपने चहुंमुखी विकास की दिशाओं के दर्शन कर लिए थे।

मोटे तौर पर यह देखा जा सकता है कि प्राग्ऐतिहासिक काल, जो करीब 20 लाख साल पहले रहा होगा, उससे पहले के आधे भाग का समय अर्थात् प्रथम 10 लाख साल भारत के वानर या नर के समान प्राणी ने नर के रूप में आकृति प्राप्त करने में संघर्ष किया और तब आज से 10 लाख साल पहले वह हथियार फेंकने वाला और 5 लाख साल पहले और तीन लाख साल पहले तक की अवधि में वह नेअन्डर्थल मानव के स्तर पर विकसित हुआ। तब से लेकर 40,000 साल पहले तक का भारतीय प्रज्ञमानव (homo sapient) होकर अपनी आगामी यात्रा पर चल पड़ा। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी रचना—'मानव समाज' के परिशिष्ट में मानव प्रगति के कालक्रम को इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

आदिम साम्यवाद	5 लाख से 10,000 साल ई.पू.
जनयुग	7000 साल ई.पू.
पितृसत्ता	5500 साल ई.पू.
नवपाषाण	5000 साल ई.पू.
दासता	4500 साल ई.पू.

सामंतवाद	3500 साल ई.पू.
पूंजीवाद	सन् 1760 ईसवी
साम्राज्यवाद	सन् 1900 ईसवी
साम्यवाद	सन् 1917 ईसवी

उपर्युक्त अनुमानों की समीक्षा की जा सकती है, किन्तु यह सारणी विकास की अवस्थाओं को पहचानने की पृष्ठभूमि का काम कर सकती है। भारत में जांगल अवस्था से लेकर बर्बर अवस्था के पूर्वार्द्ध तक के कालक्रम को इसी आधार पर समझा जा सकता है। वर्णव्यवस्था, वर्गभेद और वाद की स्थितियों से उत्पन्न भारत की अपनी विशेषताओं का गहन अध्ययन किए बिना भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि को नहीं समझा जा सकता।

भारत की आदिकालीन सामुदायिक समाज व्यवस्था अथवा आदिम साम्यवाद की कालावधि को, मानवसमाज की प्रगति की पूरी जांगल और बर्बर युग के पूर्वार्द्ध तक की अवस्था की समय सीमा में परिलक्षित किया गया है। 6 लाख साल पहले से लेकर ईसापूर्व 5000 वर्ष अथवा पाषणयुग के उत्तरार्द्ध और नवपाषाण युग के पूर्वार्द्ध तक का सुदीर्घ प्रागैतिहासिक कालखंड भारतीय चिंतन के प्रस्थान बिन्दु का द्योतक है, आमतौर पर जिसको उपेक्षित ही किया गया है।

उक्त समय भारत में मातृप्रधान सामुदायिकता थी, जिसके अवशेष दक्षिण भारत में आज भी देखे जा सकते हैं। नारी की इच्छा के अनुसार यौनाचार होता था। नारी किसी एक के साथ अनुबंधित नहीं थी। यूथ-मिथुन होते थे। जीविका का स्वरूप खाद्यसंग्रहण, शिकार और पशुपालन और प्रारम्भिक कृषि व हस्तशिल्प था। समान वितरण और समान अधिकार के कारण न कोई मालिक था, न कोई गैर-मालिक। काम के औजारों के लिए हड्डियों, पत्थरों, छालों, जड़ों, लकड़ियों को पहाड़ों और जंगलों से इकट्ठा कर लिया जाता था। घास से आग का उपयोग होता था। न कोई वर्ग, न कोई जाति और न ही इनका भेदभाव। न कोई दंडनायक और न ही दंडव्यवस्था। साथ रहना, खाना, पीना, नाचना, काम करना, सब साथ-साथ, सुख साथ, दुख साथ, हँसना-रोना सब साथ-साथ। धर्म नहीं था, न कोई कर्मकांड। प्रकृति की सुंदरता भी, तो उसकी भयंकरता भी। बाढ़, आंधी-तूफान का आतंक था। वर्षा का उल्लास था। चांद की पूर्णिमा नचाती थी, अमावस अखराती भी थी। उषा की लालिमा जगाती थी, अलसाती-हुलसाती थी। पृथ्वी मां थी। मृतक भूत बनकर डराता था, तो पुजाता भी था। सूर्य, चन्द्र, इंद्र, वरुण, वायु, अग्नि आदि आराध्य और पूजित थे। कुपित होने पर कंपाते थे तो संतुष्ट होने पर वरदान भी देते थे। कितनी ही प्रेतात्माएँ थीं तो कितने ही आराध्य। बहुत से प्रेत अनिष्टकारी और बहुत सारे देवता सुखसमृद्धिदायक।

के. दामोदरन ने आदिम भारतीय मनुष्य की चेतना में एक साथ पायी जाने वाली विरोधाभासी प्रवृत्तियों को इन शब्दों में प्रकट किया है— ''आदिम मनुष्य के सहज वस्तुवादी मतों के साथ ही सर्वात्मवाद, प्रकृति की आराधना, जादू-टोना और प्रेतपूजा जैसे 'धार्मिक' पंथों ने भी एक महत्वपूर्ण भूमिक अदा की। एक ओर तत्वगत भौतिक प्रवृत्तियां थीं जिनका मनुष्यों के शारीरिक श्रम से, उनके शारीरिक क्रिया-कलापों से, प्राकृतिक शक्तियों और भयंकर जानवरों के विरुद्ध उनके संघर्षों से उदय हुआ था। दूसरी ओर धार्मिक तथा आदर्शवादी प्रवृत्तियां और अंधविश्वास थे, जो अबूझ प्राकृतिक शक्तियों के सामने मनुष्य की अक्षमता तथा असमर्थता के द्योतक थे। भारत के आदिम मनुष्यों की विचारधारा में ये दोनों ही प्रवृत्तियां देखी जा सकती हैं।'' ('भारतीय चिंतन परंपरा' — पृ. 30-31)

उपर्युक्त अवस्थाओं में सामुदायिक या सामूहिकता अपने आप में एक केन्द्रीय चेतना रही है जो वैयक्तिकता को संयमित, संरक्षित, प्रशिक्षित और साथ ही प्रेरित भी करती है, किन्तु स्वामित्व अपने पास स्वरक्षित रखती है। सहसंबंध और अंतर्विरोध की अंत:क्रिया भीतर ही भीतर चलती रहती है।

दूसरी विशेषता यह है कि एक तरफ खाद्य संग्रहण के, उपकरण निर्माण एवं उपकरण संशोधन तथा उत्पादन प्रक्रिया के माध्यम से विज्ञान और तकनीकी नवाचार का बीजांकुरण किया जा रहा था तो साथ ही भूत-प्रेत और प्राकृतिक देवताओं के प्रति अंधविश्वासों का पोषण भी जारी था।

तीसरी प्रवृत्ति वह रही है जिसमें एक ओर आवश्यकताओं और भावनाओं की संकेत-ध्वनियों को वाणी या भाषा में रूपांतरित करने की तरफ अग्रगामिता थी, तो दूसरी ओर दंडवत् लेटकर सूर्य को जलांजलि देने जैसी दैवतुष्टीकरण की आस्थाजन्य भंगिमा थी।

इन्हीं अंत:क्रियात्मक अंतर्विरोधों की स्थितियों में अत्यन्त कष्टपूर्ण, फिर भी जीवट के साथ संघर्षरत रहते हुए पुरापाषाण, मध्यपाषाण और नवपाषाण युगों के हजारों सालों में भारतीय कबीलों ने अपने पहलेपहल निर्मित औजारों को तेज करने, उन्हें पालिशदार बनाने, फिर हथौड़ा, कुल्हाड़ी, छेनी, मछली पकड़ने का कांटा, लकड़ी-मिट्टी के बर्तन, धनुष-बाण, भाले, मोहरें, हथकर्घा आदि कितनी ही नयी-नयी वस्तुओं का आविष्कार किया। बोलियों का विकास किया, चित्रकारी का आरम्भ किया, आचार-व्यवहार के नियमन से शिक्षण-प्रशिक्षण का अन्वेषण किया और इस तरह हमारा यह साहसी, प्रज्ञ, प्रतिभावान, विज्ञानी और प्रगतिरत पुरोधा अनेक प्रकार के आयामों को उजागर कर सका।

पुरावशेषों का अध्ययन यह प्रमाणित कर चुका है कि पाषाणयुग में मद्रास का पल्लावरम्, उत्तर गुजरात, हैदराबाद दक्षिण और औरंगाबाद तक का विशाल क्षेत्र शिल्पकौशल का अनुकरणीय उदाहरण था। कोचिन के काडर आज भी पत्थर के आदिम औजारों और तीरकमानों का उपयोग करते हैं और पाषाण युग के अपने पूर्वजों जैसा ही जीवन व्यतीत करते हैं।

भारत की उपर्युक्त आदिम साम्यवादी या सामुदायिक व्यवस्था का अपना ही सहजनिर्मित आंतरिक संगठन था। एक कुल एक इकाई होती थी, जिसका एक सर्वमान्य पूर्वज होता था। कई कुल मिलकर एक कबीला होता था। जहां अधिक कुल होते थे, वहां मध्यवर्ती संगठन 'फ्रेटी' कहलाता था। एक बड़े कबीले में दो या उससे अधिक 'फ्रेटियां' मिली होती थीं। कबीले की एक लोकतांत्रिक समिति होती थी, जो कुलों के पूर्वजों या कि फ्रेटियों के चुने हुए मुखियाओं से मिलकर बनती थी—और वह अपने कबीले के सरदार को चुनती थी। हर कबीले की अपनी सामान्य बोली या भाषा होती थी। उसके अपने सामान्य आचार विचार या आस्थाओं के पूजा-विधान (धार्मिक अनुष्ठान) होते थे। उसकी उत्पादन प्रणाली भी अपनी विशेषता लिए होती थी।

आज भी मणिपुर के कुकि कबीले की मोमेंटी फ्रेटियां और केरल के वायनाड के कुरिच्चियों के 'नाड' उपर्युक्त रक्त संबंध पर आधारित कबीलाई सामाजिक इकाइयों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए पक्के सबूत हैं।

मानव-जीवन की आवश्यकता अर्थात् उसकी जिजीविषा ने उसे उत्पादक श्रम की प्रक्रिया में ढाल दिया। इसने स्वयं के प्रत्येक अंग का विकास करने के साथ-साथ अपने मनोमस्तिष्क के वातायन भी खोलने शुरू कर दिए। एक ओर जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकता भी बढ़ती गई, तो उसके साथ ही उसकी पूर्ति हेतु साधन जुटाने की विवशता ने भी जोर मारा। यह एक स्थिति थी जिसने काम करने के नये औजार बनाने, पुरानों को नयापन देते जाने की सूझ-समझ, नई खोज—पहले से बढ़िया तरकीब या नई तकनीक ढूंढ़ निकालने की ओर प्रवृत्त कर दिया। यह आदिमकालीन विज्ञान था, आज तक के विज्ञान का जनक, उसकी जननी और भौतिक चेतना का आदि स्रोता दूसरी ओर इसके साथ ही मनुष्य में प्रकृति की सुंदरता के प्रति खिंचाव था, उसके विक्षोभों के सामने उत्पन्न उसकी असहायता या लाचारी थी और उसकी भयानकता से उत्पन्न उसकी भयाक्रांतता थी।

जब बच्चा पैदा होता तो कबीले में उल्लास लहराने लगता, किन्तु मौत होने पर भूतप्रेतात्मा अनिष्ट व आशंकाए उँडेल देती—तब सहायक और तुष्टिकारक क्रियाकलाप या विधिविधान अनिवार्य हो जाते। दोनों में उत्सव भी होते थे और उनसे उत्पन्न उद्वेलन, रोमांचक भावनाएँ व संवेदनाएँ भी जग जाती थीं। इस प्रकार

की भावमयता ने जहां प्रेतपूजा या दैवभावना, आत्मावाद, पुनर्जन्म, जादूटोना, मंत्र-तंत्र, अंधी आस्था आदि को पैदा किया, वहां मूर्त्तन, चित्रण, गायन जैसी ललितकलाओं के सृजन की अंत:प्रवृत्ति भी प्रदान की। आगे चलकर दर्शन के क्षेत्र में भौतिक और भावात्मक प्रवृत्तियों ने भौतिकवाद और भाववाद, प्रकृतिवाद और आध्यात्मवाद तथा वस्तुवाद एवं आदर्शवाद को आमने-सामने ला खड़ा किया। दार्शनिक द्वन्द्व संवादपरकता और शास्त्रार्थता तक ही सीमित न रहा, बल्कि एक दूसरे के लिए विनाशात्मक गतिविधियों के रूप में भी प्रवाहित रहा है। भारतीय हो या यूरोपीय अथवा किसी अन्य देश का कोई भी दर्शन—कोई भी इसका अपवाद नहीं रहा।

भारत की आदिम साम्यवादी व्यवस्था के भीतर ही ऐसी आर्थिक और सामूहिक वस्तुगत परिस्थितियां पैदा हो गई थीं जिन्होंने उसे पीछे धकेल कर अगली मंजिल के प्रवेश द्वार का उद्‌घाटन कर दिया। राहुल सांकृत्यायन ने जिसे 'आविष्कारों का महायुग' (संभवत: प्रारम्भिक) माना है और जिसमें धनुषबाण के अलावा खेती, नहर, बाध, ईट, तांबा, मेहराब, मोहर, लिपि, सौर वर्ष आदि की खोज, निर्माण, खनन या विस्तरण करने जैसे कार्यों को सूचीबद्ध किया है और साबित किया है कि इन्होंने उत्पादन प्रणाली को एक निर्णायक परिवर्तन के अपेक्षाकृत उच्चतर स्तर तक पहुंचा दिया, यह 'महायुग' वह कालखंड है जिसे आदिम साम्यवाद की या सामुदायिकता की आखिरी मंजिल या नवीन के उदय का आभास कहा जा सकता है।

उपर्युक्त प्राथमिक साम्य युग में प्रचलित 'यज्ञ' के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'भारत—आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक का इतिहास' (56) में कॉ.-श्रीपाद अमृत डांगे ने लिखा है— "यहां पर यदि हम 'यज्ञ' शब्द के अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति की ओर ध्यान दें तो अनुचित न होगा। 'यज्ञ' शब्द वास्तव में एक शब्द नहीं है, वरन् एक वाक्य है। इस वाक्य के तीन अंश हैं— य, ज और न। य अथवा 'इ' धातु का अर्थ जाना या एकत्र होना है। 'ज' का अर्थ पैदा करना या उत्पादन है। 'न', - 'अन्-अन्त.' ये तीन धातुओं के अन्य पुरुष बहुवचन के रूप में लगाये जाते हैं। सब मिलाकर वाक्य का यह अर्थ है कि 'वे आपस में मिलते हैं और उत्पन्न करते हैं, क्या उत्पन्न हैं? वस्तुएँ और संतान उत्पन्न करते हैं। उसी तरह से 'यजुर्वेद' में युजस् अथवा युजर शब्द भी एक वाक्य है— यज्ञ और उस या उद। यह 'उर' भी अन्यपुरुष बहुवचन के रूप का प्रत्यय है। पूरे वाक्य का अर्थ फिर यह होता है "वे एकत्र होकर मिलते हैं और उत्पन्न करते है।" बाद मे (आदिम साम्यवाद की व्यवस्था टूट जाने और उससे आगे की व्यवस्था के स्वीकार कर लिए जाने पर—लेखक) यह वाक्य केवल संज्ञामात्र ही रह गया। यज्ञ संज्ञा है। उसका अर्थ हुआ

वस्तुओं और संतानों को सामूहिक रूप से उत्पन्न करने की प्रणाली। इस प्रणाली का ज्ञान वेद हैं।''

इसी तरह आदिम साम्यवाद के पतन के बाद गण-गोत्र अर्थात् आदिम साम्य-संघ (कम्यून) के सामुदायिक आर्थिक और कुलपरक संदर्भ व्यक्तिपरक आर्थिक और परिवारपरक संदर्भों में परिवर्तित हो गए या कर दिए गए। अब वे यज्ञादि संज्ञाएं वर्णभेद और वर्गभेद जन्य व्यवस्था के अनुकूल अर्थ देने लगीं। अब यज्ञ का अर्थ सामूहिक उत्पादनविधि नहीं रह गया था, बल्कि वह एक कर्मकांड, पूजाविधि, अथवा एक विगत सामाजिक परंपरा का निर्वाह मात्र रह गया। जो ब्रह्मन् आदिम साम्य अवस्था में बाहरी साकार सत्ता के रूप में एक यथार्थ था, उसे उपनिषद्‌काल में निराकार, इंद्रियातीत और ज्ञानातीत आत्मा या परमविधाता का दर्जा देकर केवल ध्यान करने योग्य ध्येय बनाकर मानवजीवन से परे पटक दिया। मध्य जांगल अवस्था में ब्रह्मन् का अर्थ था आकाश, पृथ्वी आदि प्रकृति और उसके अंग-प्रत्यंग और उसके साथ आदिम साम्य संघ के समुदाय। वह ब्रह्मन् साथ ही खाता, पीता और मस्त होता था, किन्तु बाद का ब्रह्म या ब्रह्मन् संवेदनाशून्य, निर्गुण और निराकार था जिसके लिए भौतिक मनुष्य की भावनाओं का साथ देना संभव नहीं रह गया था।

भारत की कबीलाई व्यवस्था भी 'गणव्यवस्था' थी। यह मनुष्यों के 'स्वयं संचालित संगठन' (एंगेल्स) की व्यवस्था थी। इसमें न कोई शासक था, न कोई शासित, न कोई शोषक था और न कोई शोषित, न कोई ऊंची जाति का, न कोई नीची जाति का, न कोई दंड देने वाला और न कोई दंडित। इस स्थिति को महाभारत के शान्तिपर्व (58-14) में इस तरह वर्णित किया गया है—

'न वै राज्यं राजाऽसीत न दंडो न दंडिकः
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षतस्म परस्परम्॥

(अर्थात् उस समय 'न कोई राज्य था, न कोई राजा था, न कोई दंड देने वाला था, न कोई दंड विधान। सब लोग अपने धर्म (आचरण) के नियमों से एक दूसरे की परस्पर रक्षा करते थे।

किन्तु आदिम व्यवस्था के विघटन के बाद जिस प्रकार यज्ञ और ब्रह्म या ब्रह्मन् शब्दों के अर्थ बदल गए वैसे ही गण और गोत्र के अर्थ भी सामुदायिकता के संदर्भ से हटकर पारिवारिक, समूह विशेष के लिए संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने लगे। पहले प्रत्येक कबीले के कुलों में से हरेक की पहचान हेतु उसका एक विशेष गणचिन्ह होता था और झंडे पर किसी जानवर, पौधा, चिड़िया या अचेतन वस्तु का नाम होता था। वह गण अपने को अपने गणचिन्ह के रूप में अंकित पशु, पक्षी आदि के वंश का वंशज मानता था और उससे अपना रक्तसंबंध स्थापित करता था। आज भी गणचिन्हवाद के अवशेष इतिहास के इस तथ्य की गवाही दे रहे हैं।

जनसंख्या के बढ़ते जाने के अनुपात में जब उत्पादन कमतर होता गया तो आदिम तरीके बड़े समूहों को कायम रखने में असफल साबित होने लगे। गण-गोत्र व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी। गणपुत्रों को अपने मूल स्थान छोड़कर एशिया के विभिन्न स्थानों में फैल जाना पड़ा। जिन स्थानों पर कोई नहीं रहता था वहां पर उन्होंने अपना अधिकार पैदा कर लिया और जहां पर दूसरे लोग रहते थे उस जगह पर अधिकार करने के लिए युद्ध किया। जमीन, जायदाद आदि के लिए कबीलों की अन्दरूनी आपसी लड़ाइयों और दूसरों के विरुद्ध रक्तरंजित युद्धों के उदाहरण वेदों, पुरावशेषों और महाकाव्यों में बहुतायत में प्राप्त होते हैं। कोई भी ऐसा युद्ध नहीं जिसके मूल में जमीन-जायदाद, सत्ता या कामुकता न हो। इन युद्धों का इतिहास इतना लंबा है कि यहां उससे उदाहरण छांटकर प्रस्तुत करना सार्थक न होगा।

प्रारम्भिक काल के आदिम भारतीयों के जीवन का प्रेरणास्रोत आहार आदि की भौतिक आवश्यकतापूर्ति हेतु संघर्ष करते रहना था। धार्मिक कर्मकांड अर्थात् पूजापाठ, ध्यान, योग आदि करने के लिए उनके पास अवकाश ही नहीं था। इस दुनिया से परे का न तो कोई चिंतन था, न कोई तत्त्वज्ञान। इस अर्थ में न वे आध्यात्मवादी या भाववादी थे, बल्कि उन्हें व्यावहारिक या प्राकृतिक भौतिकवादी कहा जा सकता है। लगभग सभी दार्शनिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि तत्कालीन भारतीयों के जीवन में श्रमसक्रियता प्रधान थी। उन्हें प्राकृतिक उथल-पुथल को भोगना पड़ता था। एक स्वयंस्फूर्त्त भौतिकवादी नजरिया ही उनका मार्गदर्शक था। हर प्राकृतिक घटना उनमें आश्चर्यजनक जिज्ञासा पैदा करती थी, लेकिन उनमें कार्य-कारण संबंध कायम करने की क्षमता का विकास नहीं हुआ था। कालांतर में इसी अज्ञान से जादू-टोना, मंत्रतंत्र और अन्य प्रकार का अंधविश्वास पैदा हुआ। सामूहिकता से सर्वात्मवाद का उद्‌भव हुआ, कबीलाई होड़ ने गणचिन्हवाद को पैदा किया और विक्षुब्ध प्रकृति के तुष्टीकरण ने मांसबलि चढ़ाने की हिंसक प्रवृत्ति को पूजापद्धति का अंग बना डाला। इस कालावधि में उनका दैनिक कार्यक्रम ऐसा था कि उनके शारीरिक श्रम और मानसिक स्थितियों में विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती।

आत्मवाद अथवा सर्वात्मवाद का एक आशय यह था कि शरीर के मरने के बाद भी आत्मा अदृश्य रूप में कायम रहती है और वे सभी काम करती है जो शरीरधारी जीव किया करता है। वह प्रसन्न और अप्रसन्न भी होती है, अतः अदृश्य आत्मा को भेंट चढ़ाकर खुश करना चाहिए, नहीं तो वह अनिष्ट कर देगी। बीमारी के होने का कारण भी मरे हुए संबंधी की आत्मा का रुष्ट होना अथवा प्राकृतिक शक्ति का क्रोधित होना माना जाता था। गणचिन्ह वाले प्रतीक पशु की आत्मा को भी संतुष्ट रखना आवश्यक होता था। इस संतुष्टीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत पूजा, आराधना, भेंट बलि के अर्पित करने के अलावा जादू-टोने और मंत्रतंत्र आदि की अनेक विधियां

भी काम में ली जाती थीं, जो रूढ़िगत रीति-रिवाजों के रूप में आज तक भी प्रचलित हैं। आज भी शव के मुंह में पिंड, पान, चावल आदि इसीलिए रख दिए जाते हैं ताकि मृतात्मा भूत बनकर परिवार को आतंकित न करे। इसी के लिए शांतिपाठ करवाने की प्रथा है। प्रेतात्मा अपने जीवित संबंधी के शरीर में प्रवेश करके उसके माध्यम से एक या अनेक मांग रखवा सकती है या कहलवा सकती है।

सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आदिम सामुदायिक मनुष्य, जिसमें प्रारम्भिक साम्यसंघ का भारतीय मनुष्य भी शामिल है, उसमें दोनों प्रकार की चिंतनधाराओं का बीजांकुरण हो चुका था। ये दोनों प्रकार की चिंतनधाराएं थीं—एक ओर प्राकृतिक, सहज और व्यावहारिक भौतिकवाद और दूसरी ओर उसके साथ ही सर्वात्मवाद तथा अंधविश्वासजन्य प्रेतात्मावाद। आदिम भौतिकवाद का विकास आगे की भौतिकवादी विविध विधाओं के रूप में हुआ और आदिम सर्वात्मवाद या प्रेतात्मावाद का विकास आगे की आध्यात्मवादी या आदर्शवादी विविध विधाओं के रूप में। इन दोनों धाराओं के अंतर्गत इनके आंतरिक वादानुवाद व मतमतांतर भी होते गए।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की दार्शनिक विषमताओं ने एक ओर जहां वैचारिक संघर्ष को पैदा किया, वहां वर्गीय पक्षधरता में पड़कर रक्तरंजित युद्धों को भी प्रेरित किया। यह न केवल भारतीय इतिहास के महाभारत का यथार्थ है, अपितु मानवीय इतिहास के विश्वयुद्धों तक का भी यथार्थ है।

••

श्रुति : स्मृति : विज्ञान

मानव उत्पादन करता है—अन्न, वस्त्र, मकान, औजार, मनुष्य, ज्ञान, चिंतन या दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा, भूगोल या सीमांकित क्षेत्र, अवधिपरक इतिहास, गतिशील राजतंत्र—संसद (विधायिका), कार्यपालिका और न्यायपालिका, अर्थ-वित्त व्यवस्था तथा अन्य संस्थानिक घटक आदि। वह रचता है, मिटाता है और संशोधित-परिवर्द्धित करता रहता है। अपने अस्तित्व के प्रारम्भ से वह अनवरत संघर्ष करता चला आ रहा है—अवरोधों के विरुद्ध, चाहे वे प्राकृतिक हों, शारीरिक या मानसिक अथवा अन्य किसी प्रकार के क्यों न हों। वह उत्पादक होने के नाते अपने और विश्व के अन्य सब जैव-अजैव घटकों के विकास का स्वयंभू केन्द्रविन्दु हो गया है। उसके द्वारा रचित उपर्युक्त सर्वस्व परस्पर संबंधित हैं। इस नाते उसका चिंतन या दर्शन न केवल अपने आप तक ही सीमित और अन्य इकाइयों से पृथक् और विशिष्ट दर्जे का है, बल्कि इसके विपरीत वह भूगोल व भूविज्ञान, खगोल, कृषि, भौतिकी, रसायन, जैविकी, अर्थशास्त्र, चिकित्सा, मनोविज्ञान, कला, साहित्य तथा अन्यान्य शास्त्रों, विज्ञानों, लोकाचारों, विधि-विधानों, आचार-व्यवहारों और पूजा पद्धतियों इत्यादि प्रकारांतरों से पूरी तरह सुसंबंधित व सापेक्षित है। वह देशज होते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय है और वैश्विक होते हुए भी क्षेत्रीय विशेषताओं से भरपूर है। अतः भारतीय दर्शन के किसी भी कालखंड को समझने के लिए तत्कालीन भारत की भौगोलिक सीमाओं और उसकी प्रकृति, उसकी विविध प्रकार की जीवन-पद्धतियों, भारतीयों की सर्वतोमुखी उपलब्धियों को और साथ ही उनके द्वारा अन्य देशों के साथ किए गए सम्पर्कों और उनसे प्राप्त परिणामों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होगा।

जब हम भारत के प्राचीन इतिहास, दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य, आदि पर विचार करते हैं तो हमारे सामने इस देश की सीमाओं में औपनिवेशिक अंग्रेजी शासनकाल के भारत की सीमाओं का वह समूचा क्षेत्र आ जाता है जिसमें आज के भारत, पाकिस्तान और बांग्ला देश के क्षेत्र सम्मिलित हैं। यह पुरातात्विक वास्तविकता

है कि उस युग की ऐतिहासिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक व कलात्मक प्रवृत्तियों की आधारशिला प्राग्ऐतिहासिक, द्राविड़ पूर्व, 'पोलीनेशियन' जनसमूह, द्राविड़, आर्य व तत्कालीन समुदायों के द्वारा ही रखी गई है। ये जनसमूह या कबीले एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे। यहां तक कि सीमापार के क्षेत्रों में चले जाते थे और अधिकार जमाकर भी रहने लगते थे—क्योंकि उस समय न किसी क्षेत्र विशेष को नामांकित ही किया गया था और न कोई भारत, अफगानिस्तान या ईरान ही कहलाता था। जिस जनसमूह ने जहां झंडा गाड़ दिया उसी के नाम से वह क्षेत्र जाना जाने लगा। बोली के अंतर से नामपरिवर्तन भी होते रहते थे। कहा जाता है कि आर्यों ने पहला डेरा वर्तमान अफगानिस्तान में काबुल में डाला था, तो दूसरा पंजाब और तीसरा यमुना-गंगा की उपजाऊ मैदानी घाटियों में।

यद्यपि भारतीय चिंतन का प्रारम्भिक प्रामाणिक लिपिबद्ध स्रोत आर्यग्रंथों से पहले के पुरातात्विक इतिहास काल में उपलब्ध नहीं है, किन्तु यदि इन आर्यग्रंथों के आधार पर प्राग्ऐतिहासिक काल की कोई और बात मालूम कर ली जाती है, तो उसे ऐतिहासिक क्षेत्र में सम्मिलित कर ली जाती है और तदनुसार दर्शन के स्रोत में भी परिवर्तन करना संभव होता है।

प्राग्ऐतिहासिक जनसमूहों (द्राविड़ पूर्व और द्राविड़) के सोच-समझ, कार्यानुभव, आस्था, अंधास्था, जादूटोने, यौन संबंध, भय-आतंक भावना, सृजन, सामुदायिकता या सहकारिता, उल्लास, ध्वनिर्विविधता आदि से लेकर आर्यसभ्यता के श्रुतिग्रंथों, वर्ग और वर्णव्यवस्था, यज्ञ (उत्पादन-पद्धति के स्वरूप से लेकर धार्मिक कर्मकांड के रूपांतरित अनुष्ठान तक), आचार-व्यवहार, प्राकृत अनुभूति, संवेदन, आराधन, आशंका और चिकित्सा हेतु जड़ी-बूटियों पर किए गए प्रयोग (आयुर्वेद या आयुर्विज्ञान) आदि तक सहस्राब्दियों का अंतराल माना जाता है। मोटे तौर पर इसे 6000 ईसा पूर्व से 600 ई.पू. तक का कालक्रम कहा जा सकता है। इस समय के सोच या चिंतन अथवा दर्शन के तलघर को निम्नांकित कालविभाजित आकृतियों में देखा जा सकता है—

द्राविड़ पूर्व	6000 ई.पू. से 3500 ई.पू.
द्राविड़	3500 ई.पू. से 2500 ई.पू.
हड़प्पा	2500 ई.पू. से 1750 ई.पू.
आर्य	1750 ई पू. से 600 ई.पू.
वैदिक युग	(ऋग्वेद 1500 ई.पू. से 1000 ई.पू.)
	(अन्य वैदिक ग्रंथ 1000 ई.पू. से 600 ई.पू.)

आर्य साहित्य, जो लिखित रूप में उपलब्ध है, उसे तीन भागों में बांटा गया है—मंत्र या मंत्र संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक। मतमतांतरों के कारण अलग-अलग

जो सम्प्रदाय बने, उन्हें शाखा कहा जाता है। राहुल जी के अनुसार— "हर एक शाखा की अपनी अलग-अलग संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक थे, जैसे (कृष्ण) यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा की तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक। आज बहुत सी शाखाओं के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक लुप्त हो चुके हैं। ('दर्शन दिग्दर्शन'—राहुल सांकृत्यायन)

श्रुति:— वेद (1500 ई.पू. से 1000 ई.पू.)—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद के मंत्रदृष्टा ऋषि या कवि वृहस्पति, विश्वामित्र, वसिष्ठ, भारद्वाज, विदधी, नर और गौरवीति। वेदों के जिन छंदों का संबंध पहली सामाजिक अवस्था (आदिम सामुदायिकता या आदिम साम्यवाद) से है, उसे ऋषियों ने स्वयं देखा था, अत: वे ऋषि 'मंत्रदृष्टा' कहलाए। बाद में जिन छंदों में यथार्थ और कल्पना का मिश्रण है, वे बदलती हुई सामुदायिक व्यवस्था के अंतर्विरोधों की तीव्रता को, जिन्हें ब्रह्मा या ऋषियों ने कानों से सुना (श्रुति) को दर्शाते हैं। अत: वेदों को श्रुतिग्रंथ कहा जाने लगा। इनमें प्रथम अवस्था के यथार्थ को दृष्टाओं ने देखा और और फिर आदिम युग के अंत तक के यथार्थ के कल्पनामिश्रित ज्ञान को सुनकर व्यक्त किया गया। ध्यान देने की बात यह है कि वैदिक छंदों के ज्ञान का एक अंश दृष्टा कवियों (मंत्रदृष्टाओं) का इंद्रियानुभव है, जो घटनाधारित होने के कारण पूर्णतया भौतिक है न कि आध्यात्मिक। वेदों में बाद के अंशों का ज्ञान इन्द्रियानुभव और कल्पनायुक्त अनुभव का घालमेल है जिसे वस्तुगत यथार्थवाद ही कहा जायेगा।

वेद सिद्ध करते हैं कि आर्य अपने भौतिक जीवन से बेहद प्यार करते थे। उसके लिए उनमें एक भावावेग था। उत्कट जिजीविषा थी जीवित और सुरक्षित रहने की, शत्रुओं पर आक्रमण करके उन्हें जीतने की। आराधनाएँ थीं इन्द्र की कि वह दस्युओं को मारने में उनकी सहायता करे। ऋग्वेद के आर्य परमब्रह्म या अपार्थिव तत्व के चिंतन में तल्लीन रहने वाले नहीं थे, इसके विपरीत वे प्राकृतिक शक्तियों—इन्द्र, वरुण, वायु, अग्नि आदि से कामना करते थे कि वे अपने विजय अभियान में उनके मददगार हों, उन्हें ऊर्जा प्रदान करें। वे ही उनके देवता थे और वे ही उनके संरक्षक। अगर वे क्रुद्ध हो जाएँ तो आर्यों को अतिवृष्टि, बाढ़, सूखा, तूफान आदि से उत्पन्न विनाश का सामना करना पड़ता था, जो उस विपत्ति के अतिरिक्त होता था, जो आर्येत्तर लोगों के प्रत्याक्रमण से करना पड़ता था। ऋग्वेद प्रकृति प्रार्थनाओं से ओतप्रोत है, न कि निराकार या अदृश्य, अनुभूत कल्पनाओं का सूत्रधार। ऋग्वेद के देवताओं की तीन श्रेणियां हैं— द्यु:, वरुण, मित्र, सविता, अश्विनि और अदिति—खगोलीय श्रेणी के, इंद्र, वायु, रुद्र और परजन्य—वायुमंडलीय श्रेणी के तथा अग्नि, सोम और सरस्वती नदी भौमिक श्रेणी के। यह था आर्यों के प्रथम चरण के चिंतन का प्रारूप—प्राकृतिक आधार पर बहुदेववाद, सहज प्रवृत्तियों से उत्पन्न ठेठ यथार्थवाद या प्रारम्भिक

प्रकृतिवाद अथवा प्रकृति के अंगों में देवत्वारोपण, न कि किसी रहस्यमयी चेतना का प्रायोजन। ऋग्वेद में लिंगपूजा का निषेध है।

दूसरे कालखंड (लगभग 600 ई.पू.) में समाज वर्ग विभाजित व्यवस्था में पहुंच जाता है। ऋग्वेद के दशम मंडल के पुरुष सूक्त तक आते-आते चुना जाने वाला गणनायक सर्वसत्ताधारी गणपति या सेनापति अथवा राजा बन जाता है और पूर्वकालिक कर्म या श्रम के आधार पर गठित जनगण का विभाजन अब क्रमशः वंशानुगत विभाजित वर्णव्यवस्था में ढलने लग जाता है। भारत में दासप्रथा और सामंतवाद का मिश्रित स्वरूप काफी लंबे समय तक चलता रहा है। ऋग्वेद में कई सदियों की झलक मिलती है—(1) वर्गहीन सामुदायिक व्यवस्था (आदिम साम्यवाद), (2) वर्गविभाजित दास-सामंत तथा वंशानुगत वर्णव्यवस्था में संक्रमण, और (3) सामंतवाद। यह कालावधि कम से कम एक हजार वर्षों की रही होगी। वेदों की रचना में भी एक हजार साल से अधिक का समय बीता।

वेदों के मंत्रसृष्टा मंत्रदृष्टा भी हैं तो मंत्रश्रोता भी। रचना, देखना और सुनना जैसी क्रियाएँ इन्द्रियानुभव हैं और इन्द्रियानुभव ही वैदिक संहिताओं का भौतिक आधार है। दास, स्वामी या प्रजा-राजा के प्रादुर्भाव ने प्राकृतिक बहुदेववाद को एकदेववाद में और फिर उपनिषद्काल में पहुंचने पर वह अद्वैत या अज्ञेय अवस्था में पहुंचा दिया। ऋग्वेद की अंतिम रचना दशम मंडल का प्रजापति हिरण्यगर्भ (सुनहरे गर्भवाला) होकर एकमात्र स्वामी बन जाता है। यह रूपांतरण छठी-पांचवीं सदी ई.पू. के बीच के समय में संभव हुआ। पूर्वकालिक प्राकृतिक देवता अब शक्तिशाली शासक, राजा बन जाता है जो एकेश्वरवाद के चिंतन का प्रेरणास्रोत हो जाता है।

इसी तरह बदली हुई व्यवस्था का ऋषि आत्मा (शरीर से अलग अस्तित्व) और स्वर्ग-नर्क की अवधारणाओं को प्रस्तुत करता है, किन्तु वह पुनर्जन्म से परिचित नहीं है। उसका स्वर्ग इस लोक से परे है जिसका सुख अच्छा काम करने वाला मरने के बाद भोगता है और नर्क पाताल में है जहां बुरा काम करने वाला मरणोपरांत दुःख को झेलता है।

ऋग्वेद के समान ही साम और यजुर्वेद की धारणाएं हैं। 75 मंत्रों के अलावा सामवेद के सभी मंत्र ऋग्वेद से लेकर यज्ञगान के लिए संकलित किए गए हैं। यजुर्वेद यज्ञ के कर्मकांड के मंत्रों का संग्रह है। अथर्ववेद 'मारन, मोहन-उच्चाटन' के मंत्र-तंत्र की संहिता है।

ऋग्वेद के नासदी सूक्त (10-129), 'सृष्टि की स्तुति' में दर्शन की मूलभूत जिज्ञासा (विश्व क्या है?) को दृष्टिगत रख कर कहा गया है—

उस समय न कोई सत् (अस्तित्व) था, न असत् (अनस्तित्व)।
रज नहीं था, न ही उसके पार आकाश था।

किसने किसको ढका था? और कहां? और किसके द्वारा रक्षित?
गहन गंभीर पानी कहां था? और ब्रह्मांड कहां था? ।। १ ।।
मृत्यु नहीं थी, अमरत्व भी नहीं था।
वहां रात और दिन में भेद न था।
वहां वह एकाकी स्वावलंबी शक्ति से श्वसित था,
उसके अतिरिक्त न कोई था उसके ऊपर ।। २ ।।
वहां पहलेपहल अंधकार अंधेरे में छिपा था,
विश्व भेदशून्य जल था।
वह अमूर्त जो शून्य और रिक्तता में ढका था
वही एकाकी अपनी शक्ति से विकसित था ।। ३ ।।
तब सबसे पहली बार कामना उत्पन्न हुई,
जो कि अपने भीतर मन का प्रारम्भिक बीज थी,
और ऋषियों ने अपने हृदय में खोजते हुए।
असत् में सत् के योजक संबंध को खोजा ।। ४ ।।
उनकी किरण ने अंधकार को भेद प्रकार फैलाया
किन्तु वह परम नीचे था या ऊपर?
बीज धारण करने वाला था?
उसकी महिलाएं थीं? वह पीछे था? या आगे? ।। ५ ।।
निश्चित रूप से कौन जानता है?
किसने बताया है?
कि उद्‌भव किससे हुआ? सृष्टि कहाँ से हुई?
देवता भी सृष्टि के बाद के हैं ।। ६ ।।
तब वह मूलस्रोत जिससे यह विश्व उत्पन्न हुआ
क्या वह रचा गया? या वह न रचा गया?
परम आकाश में जो नियामक है, सर्वदर्शी है
वह जानता होगा, न भी जानता होगा ।। ७ ।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इसका विवेचन करते हुए राहुल सांकृत्यायन ने 'दर्शन दिग्दर्शन' में कहा है—"ऋषि की इस जिज्ञासा और उत्तर से पता लगता है, *कि विश्व का मूल ढूंढ़ते* हुए, वह कभी तो प्रकृति के साथ चलना चाहता है, और थेल की भांति, किन्तु उससे कुछ सदियों पूर्व, जल को सबका मूल मानता है। दूसरी ओर प्रकृति का तट छोड वह शून्य में छलांग मार कर एक रहस्यमयी शक्ति की कल्पना करता है, जो कि उस 'शून्य और खाली में बैठी' है। अंत में रहस्य को और गूढ़ बनाते हुए, विश्व के सर्वदर्शी

शासक के ऊपर विश्व के कृत या अकृत होने तथा उसके (मूल स्रोत के) बारे में जानने, न जानने का भार रखकर चुप हो जाता है। इस लंबी छलांग में साहस भी है, साथ ही कुछ दूर की उड़ान के बाद थकावट से फिर घोंसले की ओर लौटना भी देखा जाता है। जो यही बतलाते हैं कि कवि (ऋषि) अभी ठोस पृथिवी को छोड़ने की हिम्मत नहीं रखता।''

डॉ. राधाकृष्णन इसी सूक्त पर टिप्पणी करते हैं कि ''प्रश्न पूछने की भावना उनमें बार-बार बलवती होती थी। चारों ओर संशयवाद का वातावरण था। इस काल का भारतीय—जैसा कि ऊपर लिखी स्तुतियों से प्रकट है (अर्थात् 10.129 से) — अपने देवताओं और समस्त वस्तुओं के अंतिम स्रोत के बारे में जानने की अभिलाषा से ओत-प्रोत था, किन्तु उसका संदेह प्राय: ही स्वीकृत मान्यताओं और अपने देवी-देवताओं के अस्तित्व के बारे में उसने प्रश्न उठाये। उसने आस्था तक के लिए प्रार्थना की। और, आस्था के लिए प्रार्थना तब तक संभव नहीं होती जब तक आस्था में ही विश्वास डिग न जाय।''

—(ए सोर्स बुक इन इंडियन फिलॉसोफी'—34—डॉ. राधाकृष्णन)

इसी पर 'पोस्ट फिलासफर्स ऑफ द ऋग्वेद—230' में डॉ. सी. कुन्हन राजा कहते हैं—''यहां हम पदार्थ से अलग आत्मा का कोई चिन्ह नहीं देखते। और जो कुल हम देखते हैं वह केवल अनन्त है जो अनुभवाश्रित जगत् में पदार्थ और क्रिया के रूप में विभाजित हो गया है। एक पूर्ण एकांतिक सत्ता के रूप में जीवन तत्व उस अनंत में स्थित था। यहां अनीश्वरवाद पूर्णत: स्पष्ट है और यह सांख्य प्रणाली का अनीश्वरवाद है, अर्थात् इसमें विश्व प्रक्रिया का कोई सृष्टा नहीं है। विकास इसी अनंत के अंतर्भाग से हुआ है— उस अंतर्भाग से जिसके अंतर्भाग से जिसके अंदर जीवन की शक्ति परिवर्तन और गतियुक्त इस संसार का विकास वर्तमान है।''

के. दामोदरन के अनुसार ''आश्चर्य की तीखी भावना के साथ जीवन और प्रकृति की घटनाओं का निरीक्षण करते रहते थे, उनके बारे में गवेषणाएँ और परिकल्पनाएँ करते रहते थे। कोई भी वस्तु स्थैतिक और परिवर्तनहीन नहीं थी ।''

('भारतीय चिंतन परम्परा'—के. दामोदरन)

उपर्युक्त यह सूक्त दर्शन की वह मौलिक जिज्ञासा है जिसके समाधान में द्वन्द्वात्मकता का विकास हुआ है। भौतिकवाद और आध्यात्मवाद ने चिंतन की संरचना को खड़ा किया है। चिंतन या दर्शन पार्थिव भौतिकता से पृथक् होकर टिक ही नहीं सकता, अत: सारी शंकाओं-आशंकाओं के निष्कर्षों का समाहार गतिशील वस्तुगत की व्यापकता में ही होता है।

सामवेद में अधिकांश उन स्तुतियों को संकलित किया गया है, जो ऋग्वेद से

ली गई हैं। ये स्तुतियां यज्ञ के समय गायी जाती थीं। यजुर्वेद में यज्ञ के उन नियमों का संकलन है, जिनका पालन यज्ञ के कर्मकांड को व्यवस्थित करने के लिए किया जाता था। अथर्ववेद में प्रेतबाधाओं से मुक्ति पाने तथा टोने-टोटके या झाड़-फूंक वाले मंत्रों का संग्रह है। इनके अलावा अथर्ववेद में जादुई मंत्रों की भरमार है। टूटी हड्डी जोड़ने के लिए जादू, फसलों में सुधार के लिए जादू, संतानोत्पत्ति के लिए जादू, विरोधी पुरोहित को नाश करने के लिए जादू तथा बाल बढ़ाने तक के लिए भी जादू, देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किए जाने वाले कर्मकांडों के साथ-साथ जादुई कर्मकांड भी ब्राह्मणवाद का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। ऋग्वेद के अंतिम भाग की रचना होते-होते वर्णव्यवस्था के आरम्भ होने का अर्थात् वर्ग विभाजित व्यवस्था के पुख्ता होने का परिचय प्राप्त हो जाता है।

वेदों के अंतिम भाग के रूप में आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। आरण्यक (वनों में रचित) में वैदिक कर्मकांडों और अनुष्ठानों की आध्यात्मिक और रहस्यवादी व्याख्या की गयी है। उपनिषद् (पास में बैठकर गुरु-शिष्य परंपरा में संवाद और विचार-विमर्श) वेदांत अर्थात् वेदों का अंतिम निष्कर्ष हैं। उपनिषदों की अन्तर्वस्तु दर्शन की दिशा में एक नये मोड़ का संकेत देती है। इस कालावधि (700 ई.पू. - 100 ई.पू) में धार्मिक कर्मकांडों के साथ-साथ दार्शनिक सोच-समझ का आधार भी व्यापक होने लगा। राहुल जी ने 'दर्शन दिग्दर्शन' में तेरह महत्वपूर्ण उपनिषदों को कालक्रमानुसार इस प्रकार रखा है—

700 ई.पू. (1) ईश, (2) छंदोग्य, (3) वृहदारण्यक

600-500 ई.पू (1) ऐतरेय, (2) तैत्तिरीय

500-400 ई.पू (1) प्रश्न, (2) केन, (3) कठ, (4) मुंडक, (5) मांडूक्य

200-100 ई.पू. (1) कौपीतकि, (2) मैत्री, (3) श्वेताश्वतर

गद्यपद्यमय उपनिषदों में अद्वैतवाद और द्वैतवाद पर विचार-विमर्श है। लोक, ब्रह्म, आत्मा या जीव, पुनर्जन्म से मुक्ति आदि प्रमुख विषय हैं।

उपनिषदों में उठाये गये दार्शनिक प्रश्न

(1) "क्या इस सृष्टि का कोई आरम्भ भी है, और यदि है तो इसके पहले कुछ था या कोई दूसरा नहीं था? कुछ लोग कहते हैं कि आरम्भ मे असत् (भूतद्रव्य) मात्र था, केवल वह था, दूसरा कोई नहीं था। उस असत् से सबका जन्म हुआ। किन्तु हे सौम्य, ऐसा कैसे हो सकता है? असत् (भौतिक पदार्थ) से सत् (चेतना) का जन्म कैसे हो सकता है?" (छांदोग्य)

(2) "मनुष्य जब सो जाता है, तब उसकी बुद्धि कहां चली जाती है और फिर कहां से वापिस लौट आती है?" (वृहदारण्यक)

(3) "विश्व की सृष्टि कैसे हुई?" (ऐतरेय)

(4) ''प्रजाएं कहां से पैदा हुईं ?'' (प्रश्नोपनिषद्)

(5) ''परलोक क्या है ?'' (कठ)

(6) ''किसकी इच्छा और किसके निर्देश से मन वस्तुओं पर स्थिर होता है ? किसके आदेश से जीवन प्रथम चरण चलता है ? किसकी इच्छा से लोग बोलते हैं ? वह कौनसा देवता है जो आंख और कान को कार्य के लिए संकेत देता है ?'' (केन)

(7) ''ब्रह्म क्या है ? परा और अपरा विद्याएँ क्या हैं ?'' (मुंडक)

(8) ''आत्मा क्या है ?'' (मैत्री)

(9) 'क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचभूत, योनि अथवा पुरुष को (इनमें से किसे) मूल कारण माना जाय ? वह इनका सम्मिश्रण भी नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व है। किन्तु जहां तक सुख और पीड़ा होने की बात है, उसमें आत्मा भी शक्तिहीन है।' (श्वेताश्वर)

(10) '' हम कहां से उत्पन्न हुए हैं ? हम किस आधार पर जीवित हैं ? हम किस पर स्थित हैं ? किसके आदेश से हम सुख में अथवा दु:ख में जीते हैं ?'' (श्वेताश्वतर)

प्रमुख दार्शनिक — (लगभग 700 ई.पू.-600 ई.पू.)

प्रवाहण जैवलि (आध्यात्मवादी)

उद्दालक आरुणि-गौतम (आध्यात्मवादी)

याज्ञवल्क्य (आध्यात्मवादी)

सत्यकाम जाबाल (आध्यात्मवादी)

सयुग्वा (गाड़ीवाला) रैक्व (भौतिकवादी)

नोट — (1) ब्राह्मण ग्रंथों की रचना ब्राह्मण पुरोहितों ने की थी, किन्तु उपनिषदों के दार्शनिक विचारों के सृजन में क्षत्रियों का भी महत्वपूर्ण योगदान था। राजा जनक दार्शनिक गोष्ठियों की अध्यक्षता करते थे। काशी के राजा अजातशत्रु ने ब्राह्मण पुरोहित बालाकि को दार्शनिक वाद-विवाद करके अपना शिष्य बना लिया। कितने ही ब्राह्मण अश्वपति केकेय नामक राजा के शिष्य बन गए थे।

उल्लेखनीय है कि पुनर्जन्म का सिद्धांत ब्राह्मणों द्वारा नहीं, क्षत्रिय शासकों द्वारा गढ़ा गया है।

(2) दार्शनिक शास्त्रार्थ में मैत्रेयी और गार्गी वाचकन्वी जैसी विदुषी महिलाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान था।

(3) उपनिषदों के विचारों में पारस्परिक विरोधाभास है, तर्कसंगति भी।

उपनिषदीय निष्कर्ष—(1) ईश्वर सर्वव्यापी है। अविद्या (व्यवहारज्ञान) से ब्रह्मविद्या (परमार्थ ज्ञान) की प्रधानता तथा ज्ञान-कर्म समन्वय।

(2) कर्मकांड का विवेकीकरण, सदाचार की आवश्यकता, बहुदेववाद का

ब्रह्मवाद (एकेश्वरवाद) में विलयीकरण, आत्मानंदवाद की प्रस्तुति, सद् से असद् की उत्पत्ति तथा अग्नि (तेज) को मूलतत्व स्वीकार करना, मन आत्मा से अलग है—यह भौतिक वस्तु (अन्न) का अतिसूक्ष्म अंश) है, ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति इसी संसार में संभव और कर्म के अनुसार पुनर्जन्म (अच्छी या बुरी योनि में) का होना।

(3) ब्रह्म 'नेति नेति' है—न आन्तरिक, न बाह्य। ब्रह्म साकार (जगत् या अस्तित्व के रूप में मर्त्य) और निराकार (अविनाशी के रूप में अमर्त्य)

(4) सृष्टि पांच भौतिक तत्वों का मेल है—जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि और आकाश। आत्मा (अहं) पहला पुरुष (चैतन्यतत्व) था—अहंब्रह्मास्मि। चैतन्य ही प्रज्ञान (ब्रह्म) है। संज्ञान, ज्ञान, विज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जुति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु (प्राण), काम (कामना)—ये सब प्रज्ञान हैं।

(5) ब्रह्म का उपासक महान् (संत) होता है। ब्रह्म आनंदमय है। ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता है।

(6) विद्याएँ दो प्रकार की होती हैं—परा और अपरा। परा (महान) विद्या वह है जिससे उस अक्षर (अविनाशी) को जाना जाता है। अपरा (तुच्छ) वह विद्या है जिसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष का ज्ञान हो। (मुंडक)

(7) मुंडक में ब्राह्मणों के याज्ञिक कर्मकांड का विरोध है। ब्रह्म की प्राप्ति सत्य, तप और ब्रह्मचर्य से होती है।

(8) त्रैतवाद में प्रकृति, जीव (आत्मा) और ईश्वर की परम समानता के ज्ञान को मुक्ति सोपान माना है।

(9) मांडूक्य में 'ओम' को दार्शनिक आवरण प्रदान कर ब्रह्म से ओंकार का मिलान बैठा दिया।

(10) उपनिषदों में विरोधाभास का बिन्दु यह है कि भौतिक शक्तियों पर आध्यात्मिकता निर्भर करती है या आध्यात्मिक चेतना पर भौतिक तात्विकता। भाववाद और भौतिकवाद की विरोधी पक्षधरताएं होते हुए भी उपनिषद् साहित्य में आध्यात्मवाद भौतिकवाद पर हावी हैं।

(11) अलग-अलग दार्शनिकों ने 'ब्रह्म' शब्द को अलग-अलग अर्थ में काम में लिया है। वैदिक 'ब्रह्म' याज्ञिक होने के कारण भौतिक अर्थ देता है वहीं उपनिषदीय 'ब्रह्म' रहस्यमयी अभौतिक शक्ति है। कहीं-कहीं ऐतिहासिक विकास क्रम के अनुसार वह नियामक-नियंत्रक आदि के रूप में भी प्रयोग में आता रहा है। फिर वृहदारण्यक में तो 'मूर्त ब्रह्म' और 'अमूर्त ब्रह्म' की चर्चा भी मिलती है।

(12) उपनिषदीय 'परम आनंदमयता' की चेतना का आधार भी सांसारिक आनंदमयता में दर्शाया गया है, जो ध्यातव्य है।

(13) गार्गी का अनुत्तरित प्रश्न कि— ''ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है ?'' याज्ञवल्क्य के आध्यात्मवादी गुब्बारे की सारी हवा निकाल देता है। जबकि याज्ञवल्क्य की ही पत्नी मैत्रेयी अपने संपत्ति संग्रहकर्त्ता पति (याज्ञवल्क्य) की 'संपत्ति बंटवारे' के प्रस्ताव को ठुकरा कर उसकी परिग्रह प्रवृत्ति का ही मूलोच्छेदन करती दिखाई देती है। साथ ही वह महाज्ञानी पति याज्ञवल्क्य की इस अवधारणा को भी चुनौती देती है कि प्रत्येक प्राणी अपनी ही कामना के लिए औरों को प्रियता प्रदान करता है।

(14) उपनिषदीय दर्शन के ब्रह्मलोकानंद (ब्रह्मानंद या परमानंद) का आधार पितर आनंद, गंधर्व लोक आनंद, कर्मदेव आनंद, आजानदेव आनंद, प्रजापति लोक आनंद बताया गया है। इसके साथ ही यह भी कि ब्रह्म पंचमहाभूत सापेक्ष है। कुल मिलाकर इस संवाद साहित्य की सारी चेतना की संरचना भूतद्रव्य से निर्मित ही मानी जायेगी। शब्दजाल, काल्पनिक उड़ान और आवरण पर आवरण होते हुए भी अन्तर्भूत सत्य को नहीं मिटाया जा सका है।

(15) दर्शन और चिन्तन का विकास सार्विक आदान-प्रदान से होता है, होता रहा है, जैसे कि अन्य सभी प्रकार के क्षेत्रों का चाहे वे आर्थिक हों, सामाजिक, सांस्कृतिक या राजनैतिक। जैन-बौद्ध विचारकों के अलावा थेल्स, अनक्सिमंदर, पिथागोर व अन्य समकालीन दार्शनिकों के चिंतन की बुनियाद में भी आदान-प्रदान की प्रक्रिया रही है।

स्मृति—साधारणतया अनुभूत विषयज्ञान के स्मरण से उत्पन्न शक्ति को 'स्मृति' कहा जाता है। इसे चिन्ता, ध्यान, स्मरण, चर्चा आदि अनेक रूपों में काम में लिया जाता है। प्राचीन साहित्य में 'महर्षिभिर्वेदार्थचिन्तन स्मृतिः' अर्थात् महर्षियों ने जिस वेदार्थ का चिंतन किया था, उसका नाम स्मृति है। वेदार्थ स्मरण से जिस धर्मसंहिता या संहिता, जिस धर्मशास्त्र, श्रुति, जीविका आदि का-सृजन हुआ है, इसी से उसे स्मृति की संज्ञा दी गई है।

श्रुति और स्मृति के शिक्षण और अनुशासन पर भारतीय आर्यो का समाज संगठित और परिचालित है—ऐसा माना जाता है।

वेदमंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् 'श्रुति' कहे जाते हैं, किन्तु वेदमूलक होने पर भी अपौरुषेय नहीं माने गए, वे 'स्मृति' अथवा स्मृतिग्रंथ हैं। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, रामायण, महाभारत, इतिहास व पुराण आदि 'स्मृति' में गिने जाते हैं।

कुछ विचारक स्मृति को 6 भागों में विभक्त करते हैं, जैसे—वेद, वेदांग, गृह्य, इतिहास, पुराण और नीति।

स्मृति ग्रंथ— प्रत्येक नाम के बाद 'स्मृति' (मनु+स्मृति—मनुस्मृति) जोड़ने पर सुपरिचित स्मृतिग्रंथ इस प्रकार हैं— (1) मनु, (2) याज्ञवल्क्य, (3) अत्रि, (4) विष्णु, (5) हरीत, (6) उशनस, (7) अंगिरा, (8) यम, (9) आपस्तंब,

(10) सम्वर्त्त, (11) कात्यायन, (12) वृहस्पति, (13) पाराशर, (14) व्यास, (15) शङ्ख, (16) लिखित, (17) दक्ष, (18) गोतम या गौतम, (19) शांतातण, और (20) वसिष्ठ।

इनके अलावा नारद, भृगु, बौधायन आदि विचारकों द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्रों का भी स्मृति के रूप में उल्लेख किया जाता है।

स्मृतिग्रंथों में बदलती हुई आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का कल्पना मिश्रित यथातथ्य वर्णन है, वर्णव्यवस्था में वर्णभेद के कारण विभिन्न वर्णों की और वर्गभेद के कारण शोषक-शोषित वर्गों की विषमताओं का उल्लेख है, जो इतिहास लेखन में स्रोत-सामग्री प्रदान करता है। वर्णों और वर्गों के लिए आचारसंहिताएँ, विधिविधान, दंडविधान, धार्मिक कर्मकांड, नीति और धर्म के शास्त्रीय सूत्र व नियम, वर्णाश्रम के अनुसार जीवनयापन के उपाय आदि को भली प्रकार अंकित किया गया है। इनमें श्रुतिग्रंथों—वेद, वेदांग, उपनिषद् आदि रचनाओं के चिंतन का पक्षपोषण और उनका खुलासा किया गया है।

स्मृति संरचना मूल रूप से वस्तुगत यथार्थ पर ही आधारित है, किन्तु स्मृति साहित्य में दार्शनिक स्तर पर उसकी स्वतंत्र भूमिका नहीं के बराबर है। अपवाद के रूप में खींचतान करने की बात अलग है।

विज्ञान—भारत हो अथवा यूनान या इस पृथ्वी का कोई भी भू-भाग, उसके दर्शन का सहोदर रहा है उसका विज्ञान। विज्ञान दर्शन से और दर्शन विज्ञान से जितना सुसंबद्ध है उतना और कोई नहीं। भूतद्रव्य के बिना न तो विज्ञान की कल्पना की जा सकती है और न ही दर्शन की। निरीक्षण, वर्गीकरण, विश्लेषण, संश्लेषण, तत्वबोध, तर्क, निषेध, अनुभवन, अनुकूलन आदि प्रक्रियाओं में से दोनों को गुजरना पड़ता है। प्रमेयों का उपयोग दोनों में होता है। विज्ञान और दर्शन सहोदर भी हैं, सहायक भी, सहयोगी भी और कहीं-कहीं तो घुले-मिले भी।

पत्थर को औजारों का रूप देना, अग्नि को अपनी तकनीक या तरकीब से पैदाकर यज्ञवेदी में जलाना, धनुषबाण जैसे जटिल यंत्र का निर्माण करना, पशुओं को पालना और उनको अनेक प्रकार के कामों में लगाना या उनका अनेक तरह से उपयोग करना, खेती-बाड़ी, वस्त्र और आवास जैसी कितनी ही ऐसी ही खोजपूर्ण प्रारम्भिक उपलब्धियों को प्राथमिक विज्ञान-दर्शन या दर्शन-विज्ञान की उपलब्धियां कही जाएँगी। जीवन की आवश्यकताओं ने दोनों को एक साथ पैदा किया। श्रम से चेतना और फिर चेतना से श्रम का विकास होता गया। विज्ञान से दर्शन और दर्शन से विज्ञान पनपता गया। दर्शन को विज्ञान से अलग नहीं किया जा सकता। ब्रह्मांड (पदार्थ) के बिना ब्रह्म या ब्रह्मवाद या शून्यवादी अद्वैतवाद की भी कल्पना नहीं की जा सकती। यदि की जाती है तो उसका परिणाम शून्य होगा अर्थात् वह निरर्थक होगी। भारत का

आदिम दर्शन और आदिम विज्ञान ने एक साथ अपनी यात्रा शुरू की थी, जो जारी है।

भारत में वैदिक काल से भी पहले से विज्ञान (कृषि, भवन और उपयोगी उपकरण निर्माण का ज्ञान) और गणित (अंकगणित और रेखागणित) संबंधी अनेक खोजें होती चली आ रही थीं, जिनका विकास दर्शन के विकास के साथ-साथ चलता रहा है। आर्यों ने वैदिक और उपनिषदिक काल में इस पूर्ववर्ती ज्ञान (विज्ञान और गणित) का भरपूर उपयोग किया और साथ ही दार्शनिक चिंतन के साथ इनका भी विकास किया। यज्ञों की वेदी को आकार देने में (पूर्वनिर्धारित माप—लंबाई, चौड़ाई, गहराई और चबूतरे की ऊंचाई) अंकगणित और रेखागणित दोनों का ज्ञान अपेक्षित था जो यह सिद्ध करता है कि याज्ञिक कर्मकांड पूरी तरह वस्तुगत यथार्थ पर आधारित थे। अंकगणित में शून्य और दशमलव प्रणाली की अभूतपूर्व और अमूल्य खोज करके भारत ने दुनिया को वह महत्वपूर्ण उपहार दिया जिसका मुकाबला कोई भी प्रत्ययवादी अवधारणा नहीं कर सकती। इसी गणित के विशिष्ट प्रकार थे—पाई का मान निकालना, ग्रहों की गतिगणना के रूप में ज्योतिष-गणित और बीजगणित। यद्यपि पुरोहित वर्ग ने गणित ज्योतिष को फलित ज्योतिष (टीपणा, जन्मकुंडली, टेवा, मुहूर्त आदि) या वेदांग ज्योतिष बनाकर ठगी का धंधा चालू कर दिया जिससे आध्यात्मवाद की अंधता को अवश्य लाभ पहुंचा, किन्तु भौतिक जीवन के यथार्थों ने हर जगह और हर मौके पर उसे पछाड़ दिया।

मंत्रदृष्टा ने ऋग्वेद (4.57.3) में कहा—'मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो' अर्थात् ओषधि (या औषधि) सकल द्युलोक समूह और जलसमूह मधुयुक्त बनें और औषधि की इस खोज में भारत के चिकित्सा विज्ञान—आयुर्वेद की पहचान है। आयुर्वेद को पांचवां वेद माना गया है। वह ऋग्वेद का उपवेद विशेष है। यह अथर्ववेद का उपवेद है। सुश्रुत के अनुसार वह अथर्ववेद का उपांग है। वह सुश्रुत और धन्वंतरि आदि द्वारा प्रणीत चिकित्सा शास्त्र या आयु संबंधी ज्ञान : आयुर्वेद अथवा आयुर्विज्ञान है। कहते हैं इसे ब्रह्मा ने आठ भागों में बांटा—(1) शल्यतंत्र (चीर-फाड़), (2) शालाक्यतंत्र (कंधों की जोड़ से ऊपर के अंगों, जैसे आंख, कान, मुख, नाक, जीभ, दांत, होठ-अधर, गंड, तालु आदि के रोगों का इलाज), (3) काय चिकित्सा (ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कोढ़, मेह का इलाज), (4) भूतविद्यातंत्र (देव, असुर, गंधर्व, यक्ष, पितृलोक, पिशाच, नाग, ग्रह आदि से भयाक्रांत की चिकित्सा), (5) कौमार भृत्यतंत्र (बाल प्रतिपालन, दूधदोष, स्तनदोष एवं ग्रहदोष से उत्पन्न रोग की चिकित्सा), (6) अगदतंत्र (सांप, कीट, बिच्छू आदि के विष को दूर करना), (7) रसायनतंत्र (बलवान बनने, आयु, मेधा आदि बढ़ाने के उपाय), और (8) वाजीकरण तंत्र (वीर्य बढ़ाने का विधान)।

चरक के अनुसार "हित, अहित, सुख, दुख और आयु तथा उसका हिताहित एवं मान बताने वाले शास्त्र का नाम आयुर्वेद है।" महर्षि सुश्रुत के मत के अनुसार "जिससे आयु बढ़ता किंवा बढ़ता मालूम पड़ता है, वह शास्त्र आयुर्वेद कहलाता है।" किंवदंती के अनुसार ब्रह्मा ने एक हजार अध्याय और एक लाख श्लोक वाला आयुर्वेद उजागर किया, फिर ब्रह्मा से प्रजापति, प्रजापित से अश्विनीद्वय, उनसे इंद्रदेव, इंद्रदेव से धन्वंतरि, उनसे सुश्रुत ने आयुर्वेद पढ़ा, सुना। फिर लोक मंगलार्थ सुश्रुत ने आयुर्वेद रचा। एक मान्यता यह भी रही है कि आयुर्वेद के जन्मदाता भारद्वाज थे।

वर्णव्यवस्था में उच्च वर्ण के कट्टर पुरोहित आयुर्वेदिक वैज्ञानिकों को शल्यचिकित्सा के कारण अछूत श्रेणी का मानते थे।

सुश्रुत और चरक संहिताएँ आयुर्वेद की अमूल्य धरोहर हैं। सुश्रुत संहिता शल्यचिकित्सा से संबंधित है। चरक चिकित्सा वैज्ञानिक होने के साथ-साथ एक चिंतनशील चिकित्सा-दार्शनिक भी थे। वे सारे भाववादी (आदर्शवादी, आध्यात्मवादी या रिक्तातिरिक्त रहस्यवादी) दर्शन-चिंतन के खिलाफ ताल ठोककर खडे हो चुके थे। यद्यपि ब्राह्मणवादियों ने बेढंगेपन से अपने क्षेपकों की जोड़ से घुसपैठी विकृतियों द्वारा चरक को ब्राह्मणी आवरण में ढकने की कुचेष्टा की है, किन्तु फिर भी इससे चरक की मौलिकताओं को छिपाया नहीं जा सकता। इसके लिए चरक संहिता के निम्नांकित संकेतों पर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है—

- युक्ति न्यपश्रय भेषज वर्ग की एकमात्र चिकित्सा विज्ञान है, जिसके अनुसार युक्ति या विवेकसंगत उपचार ही चिकित्सा की सफलता का मूल आधार है।
- आयुर्वेद शाश्वत है, क्योंकि प्रकृति के अन्तर्निहित नियमों के अलावा यह और कुछ नहीं है।
- मनुष्य प्रकृति की उपज है, वह प्रकृति का सार है। विश्व में ऐसा कोई द्रव्य नहीं, जो औषध से संपृक्त नहीं है।
- स्वास्थ्य का मतलब है—पर्यावरणीय भूतद्रव्य और देह, भूतद्रव्य के बीच सही संबंध।
- औषधि के लिए भूतद्रव्य के विभिन्न रूपों का ज्ञान होना जरूरी होता है, क्योंकि चिकित्सा के क्रम में भूतद्रव्य का किसी भी रूप में अतिक्रमण करना असंभव है।
- ज्ञानानुशासन में हर वस्तु को भूतद्रव्य के पांच रूपों से निर्मित माना है। भूतद्रव्य सचेतन या अचेतन दोनों तरह का होता है।
- जो भूतद्रव्य ज्ञानेन्द्रियों से युक्त है, वह सचेतन है जबकि ज्ञानेन्द्रियों के अभाव में अचेतन है।
- पुरुष शब्द का अर्थ उन तत्वों में निहित है, जिनसे पुरुष उत्पन्न होता है अर्थात्

भूतद्रव्य के विभिन्न रूप ही उसकी रचना करते हैं।

- जीवन और कुछ नहीं बल्कि भोजन का जीवन में रूपांतरण है। इस भोजन के अंतर्गत केवल शरीर रचना ही सम्मिलित नहीं है, बल्कि जीवन प्रतिभा, बुद्धि भी भोजन में अन्तर्निहित है।
- देह का मतलब है—भूतद्रव्य के पांच तत्वों का समग्रता से रूपांतरण—एक ऐसी समग्रता, जिसमें चेतन का निवास होता है।
- माता के गर्भ में भ्रूण-धारण भूतद्रव्य के रूपांतरण के अलावा और कुछ नहीं है।
- जैसे शरीर के भौतिक घटकों के विशिष्ट संयोग से जीवन पैदा होता है, ठीक वैसे ही, जीवन विरोधी तत्वों के परिवर्तन (प्रबल होने) से मृत्यु होती है।

इन कारणों से कहा जा सकता है कि मनुष्य प्रकृति में समाहित हो जाता है .... (आयुर्वेद) स्वभाव प्रकरण में इसे क्रियाकलापों के अंत, मृत्यु, नश्वरता, विराम आदि के पर्याय शब्दों में व्यक्त किया गया है।

शरीर सदैव एक जैसा नहीं रहता। इसमें प्रत्येक चीज सतत परिवर्तनशील है। यद्यपि शरीर की पुरातनता और नवीनता के बीच प्रत्यक्षत: कोई परिवर्तन नजर नहीं आता, तथापि सच यह है कि मानव शरीर प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है।

जीवन के निरंतर प्रवाहित रहने वाले स्रोत में कभी अवरोध पैदा नहीं हुआ और न ही ज्ञान के प्रवाह में।

(चरक संहिता के उपर्युक्त सूत्र एस.जी. सरदेसाई की रचना 'प्राचीन भारत में प्रगति एवं रूढ़ि' के पृष्ठ संख्या 164-171 से साभार संचयनित कर पुनरुद्धृत किए गए हैं।)

बौद्धधर्म के पतन के बाद वर्गीय विषमताएं तीव्रतर होने लगीं, राजाशाही सामंतवाद ने समाज पर पूरी तरह अपना शिकंजा कस लिया तो उसके पक्षपोषक स्मृतिकारों को भी मनमानी करने का भरपूर मौका मिल गया। स्मृतिकारों ने वेदांत की पदपादुका की शपथ खाते हुए वंशानुगत जातिव्यवस्था को पुनर्स्थापित करने और विशेषकर ब्राह्मणों की घटती हुई प्रतिष्ठा को फिर से ऊंचा उठाने के उद्देश्य से चरक और सुश्रुत एवं उनके सहयोगी आयुर्वेदिक अनुसंधानकर्त्ताओं के विरुद्ध एक ओर जोरशोर से निन्दा अभियान छेड़ दिया तो दूसरी ओर उनके साहित्य सूत्रों में क्षेपक जोड़ कर उन पर आध्यात्मिक आवरण डालने की चेष्टाएं कीं। स्मृतिकारों में सबसे अहम भूमिका मनु एवं मन्वंतरों की ही रही।

स्मृतिकारों ने आयुर्वेद की उत्पत्ति को ही एक रहस्य में लपेट दिया, जैसे ब्रह्मा ने भारद्वाज से, और उनसे फिर आगे से आगे कहते सुनते उसकी (आयुर्वेद की) रचना को आकाशीय शक्ति द्वारा कही, सुनी और निर्मित बताकर चरक-सुश्रुत को पीछे

धकेलने की खुराफात की।

अब यह क्षेपक जोड़ा गया कि कुष्ट रोग के होने का कारण ईशनिंदा अथवा पापकर्म तथा पूर्वजन्म में किए गए कुकर्म हैं।

अब स्वास्थ्य लाभ के लिए अनुष्ठानिक बलि देना भी उपचार के रूप में बता दिया गया। चिकित्सक के लिए अनिवार्य शर्त रखी गई कि वह ईश्वर, गाय, ब्राह्मण, गुरु और आध्यात्मिक संतों की पूजा करे, अन्यथा वह रोगी को ठीक नहीं कर सकता। अब यह कहा गया कि रोग निदान और उपचार की बजाय आस्था से ठीक होता है।

इसी प्रकार की अन्य कई चेष्टाएँ की गईं, किन्तु इन सबके बावजूद आयुर्वेद की मौलिक अवधारणाओं और प्रयोगों को गौण नहीं किया जा सका क्योंकि वे मनुष्य के दैनिक जीवन के अभिन्न अंग और मंगलकारी मूल्य बन चुके थे। दु:ख-दर्द में आध्यात्मिक चिंतन या अनुष्ठानिक क्रियाकलाप सहायक नहीं होते, उसके निवारण के लिए तो शल्य, भूतद्रव्यमयी औषधियां और रासायनिक प्रयोग ही अनिवार्य हो सकते हैं।

ब्राह्मणवाद ने आयुर्वेद के धन्वंतरि जैसे तत्कालीन चिकित्सा वैज्ञानिक को भी भगवान का अवतार कह कर उस समय के भौतिकी, रसायन, जैविकी तथा शल्य संबंधी अनुसंधानों और प्रयोगों पर आध्यात्मवादी रहस्यावरण डालने की कुचेष्टा की, किन्तु वह सफल न हो सका।

आयुर्वेद वैदिक साहित्य का समकालीन है, उसके श्लोक, निदान, समाधान और निष्कर्ष वस्तुगत अथवा भौतिकवादी चिंतन के परिणाम हैं। वे पुरोहितवाद के द्वारा प्रदत्त रहस्योत्पादक अथ च भ्रमात्मक आध्यात्मवाद को चुनौती देते हुए द्वन्द्वात्मकता का सृजन करते हैं। यह एक सफल प्रयास था—अंधविश्वासों, जादूटोनों और पौराणिक ठगविद्याओं के खिलाफ सर्वमंगलकारी व्यवस्था स्थापित करने का। आयुर्विज्ञान ने ही यह शिक्षा दी थी कि 'शरीरमाध्यं खलु धर्मसाधनं।' इसी को आगे 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन या स्वस्थ विचार' के रूप में विकसित किया गया।

कुछ भी हो दर्शन और विज्ञान अथवा विज्ञान और दर्शन अभिन्न थे, अब भी हैं और आगे भी रहेंगे। भौतिकवादी और आध्यात्मवादी दर्शन में आंतरिक, बाह्य और पारस्परिक तौर पर हमेशा से द्वन्द्व रहा है, आज भी है और आगे भी रहेगा। अंततः आध्यात्मवाद अपने आपको विघटन से नहीं उबार सकेगा।

● ●

में ही होता है, होता रहा है। यह संघर्ष ज्ञानात्मक व संवेदनात्मक भी होता है तो व्यापकतर होने पर हिंसक और विध्वंसक भी। जब से दर्शन की उत्पत्ति हुई है, तब से लेकर आज तक का दर्शन का इतिहास इसी टकराहट का विश्लेषक रहा है। रचनाओं और रचनाकारों को नष्ट होने के लिए अभिशप्त होना पड़ा है। भारतीय दर्शन में 'लोकायत' को जिस तरह मौत के घाट उतारा गया, वह विश्वदर्शन के इतिवृत्त की प्रथम अथवा प्राचीनतम जघन्य घटना है। लोकायत दुनिया का आदिकालीन भौतिकवादी चिंतन था, जिसे समूल नष्ट किया गया, इसलिए कि वह पूर्णतया नास्तिक था, इसलिए कि उसे समझने-समझाने लायक न रहने दिया जाय, और इसलिए भी कि वह अपना प्रभाव न छोड़ सके। यद्यपि उसकी संरचना का कोई मौलिक सूत्र संकलन बाकी नहीं रहने दिया गया, फिर भी विरोधियों द्वारा की गई उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना ने ही उसके अस्तित्व को प्रमाणित कर दिया।

लोकायत को चार्वाक भी कहते हैं। 'लोकायत' का शब्दार्थ 'लोक' अर्थात् आम लोग या जनसाधारण तथा 'आयत' अर्थात् 'फैलाव' जनसाधारण में व्याप्त चेतना या दर्शन है। इसी लोकायत को दार्शनिक प्रणाली के रूप में माना जाने लगा तो इसका तात्पर्य यह हो गया कि यह एक ऐसा दर्शन है जो इस लोक-भौतिक जगत् को ही मूल तत्व मानता है, वह किसी स्वर्ग, नर्क, पुनर्जन्म, ईश्वर, रहस्य और मोक्ष की अवधारणा को पूरी तरह नकारता है। वह वेद प्रमाण और कर्मकांड को अस्वीकार करता है। जैन दार्शनिक हरिभद्र और उनके शिष्य मणिभद्र लोकायत को भौतिक जगत् का इन्द्रियानुभविक ज्ञान मानते हैं। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार लोकायत भारत के भौतिकवादी दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त संस्कृत शब्द और हमारे विचारक भौतिकवादियों को लोकायतिक कहते आए हैं।

चार्वाक् का अर्थ है, 'चारु' या सुन्दर, 'वाक' या वाणी, दोनों को मिलाने पर चार्वाक बना, जिसका अर्थ हुआ सुन्दर वाणी से आकर्षित करने वाला। लोकायत दर्शन पर व्यंग कसने वाले इसे चार्वाक दर्शन कहते हैं और इसकी खिल्ली उड़ाते हुए कहते हैं कि इसका आधारसूत्र है—'ऋणंकृत्वा घृतं पिवेत अर्थात् खाओ, पिओ और मौजमस्ती करो', यही जगदाधार है। किन्तु वास्तव में लोकायत तर्करहित, अगंभीर या छिछला विचार होता तो उसे समूल नष्ट करने की विध्वंसक प्रवृत्ति प्रत्यक्ष नहीं होती।

ई.पू. 700-600 के करीब उपनिषदकालीन दर्शन के एक पक्ष भौतिकवाद के समकक्ष एक ठेठ भौतिकवादी चिंतनधारा का उदय हुआ, उसे लोकायत या चावार्क कहा गया। उपनिषदीय आंशिक भौतिकवाद कहीं न कहीं वैदिक परंपरा से जुड़ा हुआ था, किन्तु लोकायत वैदिक परंपरा को तोड़ने वाला दर्शन था। ब्राह्मणवादी आर्य, अवैदिक ब्राह्मणेतर या व्रात्य आर्य और अनार्य—इन तीनों वैदिक सांस्कृतिक

प्रणालियों में पहली और दूसरी में तो कहीं न कहीं समन्वय की चेष्टाएं मिलती हैं, लेकिन अनार्य आचार-व्यवहार और सोच-विचार से समन्वय की कहीं पर किसी प्रकार की कोशिश नहीं दिखाई देती। यह असंधेय स्थिति ही वह मूल कारण थी कि पहली और दूसरी चिंतन प्रणालियों ने तीसरी के विपरीत साझा मोर्चा खड़ा किया और वैदिक ब्राह्मणवाद की अग्रसरता ने अनार्य संस्कृति में उत्पन्न लोकायत को समूह नष्ट करने का प्रयास किया।

वृहस्पति को लोकायत का प्रेणता माना जाता है। यह विडंवना ही है कि वृहस्पति को वैदिक ब्राह्मणवादी मंडली और अनार्य शिष्यों दोनों का ही आचार्य अथवा सुर-असुर दोनों का ही सर्वमान्य गुरु स्वीकार किया जाता है। इससे यह प्रतीत होता है कि ठेठ भौतिकवादी होते हुए भी आध्यात्मवादी विचारक वृहस्पति के आचार्यत्व को चुनौती रहित मानते थे। लोकायत विश्व का वह प्रथम मूल सोच था जिसने आत्मा, परमात्मा, परलोक, स्वर्ग-नर्क, पुनर्जन्म, मोक्ष और वर्णव्यवस्था की अवधारणा को सरेआम नकार दिया था। निःसंदेह इसके लिए लोकायतिकों को अभिव्यक्ति के प्रत्येक खतरे को झेलना पड़ा होगा। कहा जाता है कि लोकायत के दार्शनिक वृहस्पति ने वैदिक काल में ही पदार्थ को प्राथमिक तत्व के रूप में परिभाषित कर दिया था।

लोकायत के विषय में भास्कराचार्य के ब्रह्मसूत्र, भागुरि की टीका और पुरंदर की मान्यता का उल्लेख किया जाता है। कौटिल्य ने लोकायत को सांख्य और योग के समतुल्य माना। अन्वीक्षकी के अन्तर्गत इन तीनों को सम्मिलित किया गया है। अपने अर्थशास्त्र (1-2) में कौटिल्य ने कहा है—''इन विज्ञानों के प्रकाश में देखने पर अन्वीक्षकी शास्त्र इस संसार के लिए सर्वाधिक लाभप्रद है, वह दुःख और सुख दोनों में ही मस्तिष्क को स्थिर रखता है और दूरदृष्टि, वाणी और क्रियाकलाप को श्रेष्ठता प्रदान करता है।''

फिर यह भी पाया जाता है कि अनेक आध्यात्मवादियों ने लोकायत के पुराने ग्रंथों से बार-बार उद्धरण देकर लोकायतिकों और लोकायत की निन्दात्मक आलोचना की है। यह निंदाक्रम शताब्दियों तक लगातार चलता रहा है। पन्द्रहवीं शताब्दी के माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में इन शब्दों में लोकायत की मान्यताओं का तिरस्कार किया—''जब हम वृहस्पति के शास्त्र विरुद्ध सिद्धांतों को अन्यत्र पढ़ते हैं तो हम देखते हैं कि वे पद्य में व्यक्त किए गए हैं, मानो वे किसी कारिका से लिए गये हों, न कि सूत्रों से। वे हमारे लिए विशेष दिलचस्पी पैदा करते हैं क्योंकि उनसे प्रकट होता है कि भारत को जिसे आमतौर से आध्यात्मवादी और आदर्शवादी विचारों का देश समझा जाता है, उसमें भोगवादी दार्शनिकों का कतई अभाव नहीं था। यद्यपि यह कहना कठिन है कि भारत में ये सिद्धांत कितने पुराने हैं, तो भी यह निश्चित

है कि हम जैसे ही दर्शन में किसी युक्तियुक्त प्रबंध को देखते हैं, तो हम पाते हैं कि उसमें भोगवादी विचार उठ खड़े हुए हैं।"

आधुनिक काल के विचारकों में यह समस्या बार-बार सामने आती रही है कि लोकायत की मूल रचना या संहिता तथा उस पर लिखी गई अनेक टीकाएँ कहां गायब हो गईं और किन लोगों ने और क्यों उन्हें नेस्तनाबूद किया? जवाहरलाल नेहरू ने अपनी रचना 'भारत की खोज' में इस पर विचार करते हुए लिखा— "नष्ट हुए ग्रंथों में वह समस्त भौतिकवादी साहित्य था जो प्रारम्भिक उपनिषदों के काल के बाद रचा गया था। उसका कोई उल्लेख मिलता है तो उसकी आलोचना और भौतिकवादी सिद्धांतों का खंडन करने के पुरजोर प्रयासों में ही मिलता है। किन्तु इस बारे में शक की कोई गुंजायश नहीं कि भौतिकवादी दर्शन का भारत में सदियों तक प्रचलन रहा है और एक समय तो जनता पर उसका बहुत ही शक्तिशाली प्रभाव था। राजनीतिक और आर्थिक संगठन से संबंधित कौटिल्य की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में, जिसकी रचना ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हुई थी, यह कहा गया है कि यह दर्शन भारत के सर्वप्रथम दर्शनों में से एक था।"

"ऐसी स्थिति में हमें इस दर्शन के आलोचकों और उन लोगों पर जो इसकी निन्दा करने पर तुले हैं, तथा उसका मखौल उड़ाने और यह सिद्ध करने पर आमादा हैं कि यह कितना हास्यास्पद था, निर्भर करना पड़ेगा। बेशक यह उस दर्शन का पता लगाने का बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण माध्यम है। किन्तु उस दर्शन को विकृत करने के उनके अत्यधिक उतावलेपन से ही यह जाहिर हो जाता है कि उनकी नज़रों में यह कितना महत्वपूर्ण था। संभवतः भारत में भौतिकवाद पर अधिकांश साहित्य को बाद के काल में पुरोहितों ने तथा रूढ़िवादी धर्म में यकीन करने वाले दूसरे लोगों ने नष्ट कर दिया था।"

यहां इस बात को फिर दोहराया जा सकता है कि डॉ. एस. राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में भौतिकवाद को उतना ही पूर्वकालिक बताया है जितना कि दर्शन स्वयं है।

लोकायत या चार्वाक दर्शन के कट्टर शत्रुओं ने न केवल उसके मूल ग्रंथों को जलाकर नष्ट ही किया, अपितु उसके खिलाफ एक दीर्घकालिक निन्दा-अभियान चालकर जनसाधारण के मानस में भयंकर घृणाभाव पैदा कर दिया। लोकायत के प्रणेताओं, मानने वालों, समर्थकों एवं यहां तक कि उनकी बात पर ध्यान देने वालों तक को अनैतिक, भोगविलासी, परोपजीवी और आवारा तक घोषित कर दिया। लोकायत के तत्वज्ञान का छिछली और तर्करहित व्यंगशैली में मखौल उड़ाया।

माधवाचार्य के 'सर्वसिद्धांत संग्रह' में दिए गए सारांश के आधार पर के. दामोदरन ने 'भारतीय चिंतन परंपरा' (109) में लोकायत का पुनर्गठित रूप इस प्रकार

अंकित किया है—

1. लोकायत सिद्धांत के अनुसार चार तत्व ही चरम सिद्धांत हैं— पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, अन्य कोई तत्व नहीं है।

2. केवल उसका ही अस्तित्व है जो प्रत्यक्ष है; जो प्रत्यक्ष नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है, कारण कि उसका कभी प्रत्यक्षण नहीं हुआ। अदृश्य में विश्वास करने वाले भी यह कभी नहीं कहते कि अदृश्य गोचर हुआ है।

3. यदि जो कभी-कभी प्रत्यक्ष हुआ है वह अदृश्य मान लिया जाय, तो वे उसे अदृश्य कैसे कह सकते हैं ? जो कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, जैसे खरगोश के सिर पर सींग जैसी चीजें, तो उन्हें कैसे अस्तित्वपूर्ण माना जा सकता है ?

4. अन्य लोगों को यहां सुख और दु:ख से गुण और दुर्गुण (के अस्तित्व) की अभिधारणा नहीं करनी चाहिए। कोई व्यक्ति सुखी अथवा दु:खी प्रकृति के नियमों के कारण ही होता है; दूसरा कोई कारण नहीं है।

5. मोरों को कौन रंगों से सजाता है अथवा कौन कोयल से गाना गवाता है ? प्रकृति के अतिरिक्त कोई दूसरा कारण नहीं है।

6. आत्मा शरीर ही है जो इन गुणों की अभिव्यक्ति से प्रकट है कि 'मैं मोटा हूं', 'मैं नौजवान हूं', 'मैं बड़ा हो गया हूं', 'मैं बूढ़ा हो गया हूं', इत्यादि। वह इससे (शरीर से) भिन्न और कुछ नहीं है।

7. अचेतन तत्वों में (अर्थात् पदार्थ से उत्पन्न जीवियों में) चेतना की जो अभिव्यक्ति पायी जाती है वह उसी रूप में उत्पन्न होती है जैसे पान, सुपारी और चूने के योग से लाल रंग उत्पन्न हो जाता है।

8. इस संसार के अतिरिक्त कोई दूसरा संसार नहीं है। न तो स्वर्ग है और न नर्क। शिवलोक तथा अन्य ऐसे ही लोकों की बातें अन्य विचार-प्रणलियों के धूर्तों ने गढ़ी हैं।

9. स्वर्ग का उपभोग स्वादिष्ट भोजन करने, तरुण स्त्रियों का सत्संग करने, सुन्दर वस्त्र पहनने, इत्र और मालाओं का उपयोग करने तथा चंदन आदि लगाने में निहित है।

10. नर्क का दु:ख शत्रुओं, हथियारों और बीमारियों से उत्पन्न कष्टों में निहित है, जबकि मोक्ष मृत्यु है अर्थात् प्राणवायु का समाप्त होना है।

11. अत: बुद्धिमान लोगों को उसके (मोक्ष के) लिए कष्ट नहीं उठाने चाहिए। मूर्ख ही तप और व्रत आदि से अपने शरीर को शक्तिहीन और निर्बल बनाते हैं।

12. शुचिता तथा ऐसे ही अन्य नियमों को चतुर किन्तु कमजोर लोगों ने बनाया है। सोने और भूमि की दान-दक्षिणा की व्यवस्था, तथा भोजनों में निमंत्रण की परिपाटी उन क्रुद्ध लोगों ने बनायी है जिनके पेट भूख से पिचके हुए हैं।

13. मंदिरों, जलपूर्ति-गृहों, कुंडों, कुओं, आरामगाहों तथा ऐसी ही चीजों के निर्माण की प्रशंसा केवल यात्री करते हैं, अन्य लोग नहीं।

14. वृहस्पति का विचार है कि अग्निहोत्र-कर्मकांड, तीन वेद, त्रिदंड, भस्म-लेपन आदि उन लोगों के जीविका कमाने के साधन हैं जिनके पास बुद्धि और शक्ति का अभाव है।

15. बुद्धिमान लोगों को इस संसार के सुख उचित साधनों, जैसे कृषि, पशुपालन, व्यापार, राजनीतिक प्रशासन इत्यादि के जरिये प्राप्त करने चाहिए।

चार्वाक धार्मिक साहित्य, अदृश्य शक्ति, आत्मा की अमरता और कर्मकांड में आस्था रखने को मूर्खता समझते थे। उनके अनुसार सब प्राणियों की उत्पत्ति भौतिक तत्वों से हुई है। भौतिक तत्वों में स्वयं में वह रचनाशक्ति अन्तर्निहित है और इन्हीं तत्वों के समन्वय से ही प्राण और प्राणी की चेतना की उत्पत्ति संभव होती है। वे प्रत्यक्ष ज्ञान को सच्चा ज्ञान मानते थे। उनके लिए धार्मिक आदेश या उपदेश एवं पुरोहिती निर्देश निरर्थक थे। जीव का लक्ष्य त्याग, संन्यास या मोक्षप्राप्ति नहीं है, वह तो इससे अधिकतम आनंद प्राप्त करना है। यह दृश्यमान लोक ही सत्य है, अदृश्य लोक या परलोक—स्वर्ग-नर्क लोक की धारणा ही मिथ्या है। न कोई अमर आत्मा है और न ही कोई परमात्मा। सृष्टिकर्त्ता ईश्वर जैसी किसी शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। यदि कोई दयालु ईश्वर होता तो अधिसंख्यक लोग दुःखी क्यों होते, यदि कोई न्यायकर्त्ता ईश्वर होता तो गरीबों पर क्रूरता और अत्याचार क्यों होते ? यदि वह समदर्शी होता, तो ऊंच-नीच का जातिभेद क्यों होता ? अतः वह न तो पालक ही है और न ही नियंत्रक। सब प्रकार से सोचने पर ईश्वर के अस्तित्व को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता।

लोकायतिकों की मान्यता थी कि जीवित मनुष्य कभी संवेदनाओं, दुःख-सुख आदि के अनुभव से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता। उपचार से राहत पहुंचाकर मात्रा को कम किया जा सकात है। अतः दुःखों को कम करने और सुखों को बढ़ाने की आवश्यकता होती है। जीवन को सुखमय बनाना ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। चार्वाकों ने आत्मा, ईश्वर, परलोक, नर्क-स्वर्ग, पुनर्जन्म, कर्मकांड, भाग्यफल, मोक्ष, यज्ञ, बलि आदि की भर्त्सना करते हुए जनसाधारण को मिथ्या धारणाओं, पाखंड, धोखेबाजी और तत्कालीन समाज में फैलाए गए अंधविश्वासों के विरुद्ध जागरूक किया। उनका यह जन-अभियान इतना प्रभावशाली होता जा रहा था कि आध्यत्मवादियों की अवधारणाओं की चूलें हिलने लगीं। उनका मखौल उड़ाया जाने लगा। आध्यात्मवादियों ने मिलकर षड्यंत्र रचा और लोकायत दर्शन की मूल रचना को जलाकर खाक कर दिया।

पुरोहित कर्मकांड के विधि-विधान के रूप में जिन वैदिक मंत्रों का उच्चारण करते थे, लोकायत उनमें कइयों को अर्थहीन, दूसरों को अस्पष्ट और बाकियों को परस्पर विरोधी बताता था। उसके अनुयायी वेदों को साधारण मनुष्यों द्वारा रचित बताते थे। वे यज्ञ में पशुबलि की घोर निन्दा करते थे।

लोकायत ही वह पहली दार्शनिक प्रणाली थी जिसने आत्मा के अस्तित्व को शरीर के अस्तित्व पर आधारित माना। उसके अनुसार इंद्रियवेदन, यद्यपि अलग-अलग अथवा सामूहिक रूप से, बाह्य पदार्थों, जैसे पृथ्वी आदि में संभव नहीं है, तथापि वह तत्वों के शरीरों में रूपांतरित हो जाने पर संभव हो सकता है। लोकायतिकों की यह मान्यता रही है कि तत्वों से चेतना का जो उदय होता है—वही इंद्रियवेदन है। अत: आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं माना जा सकता।

इस दर्शन का ज्ञानपक्ष भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यहां सत्य तक पहुंचने का साधन इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण एवं प्रमाणीकरण ही है। आध्यात्मवादी ज्ञान के तीन स्रोत मानते थे—प्रत्यक्ष, अनुमिति और शब्द प्रमाण अथवा वेद वाक्य। लोकायतिक प्रत्यक्ष को ज्ञान का प्राथमिक स्रोत मानते हैं। अनुमिति प्रत्यक्ष पर आधारित होने के कारण सत्य के लिए साधन हो ही—यह सदैव आवश्यक नहीं। धुआं आग से उठता है, किन्तु यह अनुमान कि जहां कहीं भी अग्नि है वहाँ धुआं होगा ही, अथवा जहां कहीं भी धुआं है वहां अग्नि होनी ही चाहिए, सदा सच नहीं हो सकता। कालातीत अनुमिति सही भी हो सकती है किन्तु भविष्यवाची अनुमिति गलत भी हो सकती है। इसलिए चार्वाक अनुमिति को प्रामाणिक नहीं मानते। वे वेद वाक्य, वेदमंत्र या शब्द को भी ज्ञान का विश्वसनीय आधार नहीं मानते। उनकी दृढ़ धारणा थी कि ज्ञान का एकमात्र विश्वसनीय स्रोत इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण ही है। मनुष्य के संज्ञान से बाहर कोई यथार्थ या सत्य स्वीकार्य नहीं है। वेदविहित पुरोहिती कर्मकांड (यज्ञ, बलि आदि) के विरुद्ध होने की वजह से भी लोकायत के पक्षधर सत्यप्राप्ति के लिए अनुमिति और शब्द को प्रामाणिक नहीं मानते।

ब्राह्मणवाद द्वारा प्रदत्त वंशानुगत जातिभेद, कर्मकांडी अंधविश्वास, आत्मा के आवागमन की कल्पना या पुनर्जन्मवादी बकवास, कर्मफल अथवा स्वर्ग-नर्क-भोग की मनगढ़ंत गप्पबाजी और दैवी रहस्यवाद से उत्पन्न सदियों पुरानी जड़ता को तोड़ने का काम किया लोकायत और उसके विचारक चार्वाकों ने। यह तत्कालीन वर्णव्यवस्था एवं दास-मालिक समाज व्यवस्था के भीतर उभरते हुए अन्तर्विरोध का प्रस्फुटन भी था। डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'इंडियन फिलौसफी' के प्रथम खंड (283-284) में इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

''समय द्वारा प्रतिष्ठित और जनता के स्वभाव में गहरी जड़ें जमाई प्रथाओं को उदारपंथी प्रयासों से सुधारने का प्रयास निरर्थक होता यदि सदियों से चली आई

उदासीनता और अंधविश्वास को चार्वाक संप्रदाय जैसी विस्टोफक शक्ति द्वारा हिलाया नहीं गया होता। भौतिकवाद व्यक्ति की आध्यात्मिक स्वतंत्रता और प्राधिकार के सिद्धांत को ठुकरा देने की घोषणा का द्योतक है। व्यक्ति को कोई भी ऐसी चीज स्वीकार करने की जरूरत नहीं जो तर्क की गतिशीलता द्वारा प्रमाणित न कर दी गयी हो। यह मनुष्य की भावना और चेतना का खुद उसके पास लौटना है और उस तमाम का, जो केवल विजातीय और बाह्य है, खंडन है। चार्वाक दर्शन अपने युग को अतीत के उस बोझ से, जो उसे आक्रांत किए था, मुक्त करने के लिए तीव्र उन्मादपूर्ण प्रयास था। उस रूढ़िवाद को हटाना, जिसे हटाने में उसने मदद की, इसलिए जरूरी था कि इसके बाद परिकल्पना की दिशा में महती सृजनात्मक प्रयास किए जा सकें।"

रहस्य को तोड़कर प्रत्यक्ष की ओर, आस्था की अंधता को चीर कर तर्क की सिद्धि की ओर, हताशा को हटा कर आशा की ओर; आत्मा, परमात्मा या भाग्य के आकाश से टपकने वाली अनुकंपा पर भरोसा न कर अपने श्रम के सहारे प्रगति करने की ओर, व्यक्तिगत सुख को सार्वजनिक सुख में बदलने की धारणा की ओर, पारलौकिकता के जाल को छिन्न-भिन्न कर इहलौकिकता को सुधारने-संवारने की ओर एवं त्यागवादी आत्मोत्पीड़न, संन्यास व एकांत साधना के हठयोग को तिलांजलि देकर ज्ञान, विज्ञान और भिन्न-भिन्न प्रकार की कलाओं के सृजन की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देकर समाज को जगाने, सुधारने और बदलने की यथार्थ शिक्षा किसी ने दी तो वह लोकायत या चार्वाक दर्शन ही था, जिस पर सारे आदर्शवादियों ने मिलकर तरह-तरह के भोगवादी लांछन लगाकर उसे सर्वसाधारण की नजरों में गिराने की चेष्टा की। फिर भी यह विशेष ध्यान देने वाली बात है कि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सांख्य और योग के साथ लोकायत दर्शन-प्रणाली का अध्ययन करने की आवश्यकता प्रतिपादित की।

दार्शनिक चिंतन की कसौटी पर कसने से लोकायत का शुरुआती भौतिकवाद स्वयंस्फूर्त्त, सहज व सरल भौतिकवाद ही कहा जा सकता है। इसमें तर्क की गहनता की अपेक्षा आध्यात्मिक अज्ञेयवाद, वैदिक वितंडावाद, पुरोहिती अंधविश्वास आदि पर व्यंग्यात्मकता अधिक है जो प्रमाणयुक्त पुष्टि की बजाय भावाभिव्यक्ति की परिधि में प्रवेश करती दिखाई देती है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर भी इसमें अनेक कमियां हैं। लेकिन मूलपाठ के उपलब्ध न कर सकने की स्थिति में लोकायत की समालोचना करना अपने आप में ही अधूरा और अन्यायपूर्ण प्रयास माना जायेगा।

लोकायत जिस रूप में भी है, तत्कालीन परिस्थितियों में वह अत्यंत मूल्यवान है। उसने अभिव्यक्ति के सारे खतरे मोल लेकर दर्शन के प्रश्नों के जो उत्तर दिए, उन्हें इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

प्रश्न	उत्तर
जगत कैसा है, उसकी प्राथमिकता क्या है ?	'भूतात्मक: जगत:'
उसके अस्तित्व का कारण ?	'स्वभावं जगत: कारणं आहु:'
ईश्वर का अस्तित्व ?	'न परमेश्वर: अपि कश्चित'
पुनर्जन्म, मोक्ष का अस्तित्व ?	'न पुनर्जन्म:, न मोक्ष:'
मोक्ष क्या है ?	'मरणं एव मोक्ष:'

भारतीय दर्शन में लोकायतिकों के समान विचारक थे चरक, सुश्रुत, वाग्भट और आर्यभट जैसे आयुर्वेदाचार्य तथा जैन गणितज्ञ महावीराचार्य जैसे गणितज्ञ एवं नागार्जुन जैसे रसायनज्ञ। ये उन्हीं की तरह आध्यात्मवाद विरोधी वैज्ञानिक थे। लोकायत की दार्शनिक धारा के भौतिक चिंतन का समुचित विकास जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय आदि शाखाओं में अपनी-अपनी तर्कसंगतियों के आधार पर संपादिया किया गया। सांख्य का सत्कार्यवाद, जैन का अनेकांतवाद या स्याद्वाद व बौद्ध का अनित्यत्व, परिवर्तन सातत्यवाद या प्रतीत्य समुत्पादवाद आदि को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

'भारत की खोज' (100) में लोकायत के विचारकों के विषय में जवाहर लाल नेहरू ने लिखा— ''भौतिकतावादियों ने सत्ता तथा विचार, धर्म व अध्यात्म विद्या में सभी निहित स्वार्थों पर आक्रमण किया। उन्होंने वेदों, पुरोहितों की धूर्तता, परंपरागत विचारों की भर्त्सना की तथा यह घोषणा की कि विचार स्वतंत्र हों एवं पूर्वाग्रहों या अतीत की सत्ता पर आधारित नहीं होने चाहिए। उन्होंने जादू व अंधविश्वास के सभी रूपों को फटकारा। उनकी सामान्य भावना की तुलना कई मायनों में आधुनिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से की जा सकती है, यह अतीत के बंधनों व बाधाओं से, अनुभव न किए जा सकने वाले मामलों पर अनुमान या काल्पनिक देवताओं की पूजा से मुक्त होना चाहते थे।''

लोकायत दर्शन पर सर्वप्रथम और प्रामाणिक शोधकार्य किया डॉ. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने। 'लोकायत' उनका अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। सारत: अपनी रचना 'इंडियन फिलोसोफी (199) में डॉ. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने लिखा— ''संयोगवश, इस देश में जन-आंदोलन की शक्ति के बढ़ने के साथ-साथ आज हमें भौतिकवादी दर्शन का सम्मान भी बढ़ता हुआ दिखाई दे रहा है। भारतीय परंपरा की दृष्टि से देखा जाय तो यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। क्योंकि भारतीय दर्शन में लोकायत का अर्थ न केवल भौतिकवादी दर्शन ही है, अपितु स्पष्टतया यह सब लोगों का दर्शन भी है। लोकेपु आयत: लोकायत अर्थात् आम लोगों में लोकप्रिय होने के कारण ही इसे 'लोकायत' कहा गया। अत: चाहे कोई भारतीय आध्यात्मवाद और भारतीय आदर्शवाद के संबंध में पंडिताऊ भ्रम को बनाए रखने के लिए गाल बजाता रहे, सच्चाई

यह है कि भारत के लोग ही भारतीय भौतिकवाद के उत्तराधिकारी और संरक्षक रहे हैं। उनका यह दायित्व भी है कि वे इस सतत प्रगतिशील वैज्ञानिक ज्ञानराशि को अधिकाधिक समृद्ध करें। इस प्रकार हमें अपने पुरातन भौतिकवाद के तात्विक सत्य को वर्तमान के असीम उच्चतर स्तर तक ले जाकर पुनः प्रतिष्ठित करना होगा।"

हजारों पृष्ठों में रचित 'भारतीय दर्शन का इतिहास' शीर्षक स्रोत ग्रंथ में एस.एन. दासगुप्ता ने लोकायतिकों के आनुमानिक प्रणाली विषयक चिंतन के बारे में मूल्यवान विवरण दिया है। इसकी खास विशेषता इस बात में है कि इसमें लोकायत के दृष्टिकोण की व्याख्या ऐसे विचारक द्वारा की गई है, जो स्वयं एक लोकायतिक था। उसका नाम पुरन्दर था। सन् 1925 में संपन्न भारतीय दर्शन सम्मेलन के दस्तावेज में जी. टुस्सी (G.Tucci) ने अपने एक उद्धरण में पुरंदर को चार्वाक मत के ग्रंथकर्त्ता के रूप में प्रस्तुत किया है। दासगुप्ता के अनुसार पुरंदर सातवीं शताब्दी का लोकायतिक विचारक था। अनुमिति पर उसके विचारों का सार देते हुए दासगुप्ता ने लिखा— "पुरंदर सांसारिक वस्तुओं की प्रकृति के निर्धारण में अनुमिति को उस सीमा तक उपयोगी मानता है, जहां तक प्रत्यक्षबोधात्मक अनुभूति उपलब्ध है, किन्तु जहां प्रत्यक्ष बोधात्मक अनुभूति प्राप्य न हो, उसके अभाव में अनुमिति का उपयोग इन्द्रियातीत या परलोक संबंधी धार्मिक मतांधता के प्रतिष्ठापन के लिए नहीं किया जा सकता और न ही उसका उपयोग पुनर्जन्म या कर्मफल विधान की उस अवधारणा को प्रमाणित करने के लिए किया जा सकता है, जहां सामान्य इन्द्रियानुभव की पहुंच तक न हो।"

पिछले तीन हजार सालों से, जब से दर्शन की उत्पत्ति का होना माना जाता है, भौतिकवाद और आध्यात्मवाद का हर स्तर पर संघर्ष चलता आ रहा है। संघर्ष न केवल राष्ट्रव्यापी रहा है, अपितु विश्वव्यापी भी रहा है। कारण है दर्शन का विश्वस्तरीय समरूप होना। दर्शन की समस्याएं एकसी हैं, उनके समाधान के लिए उत्तरों का तत्वमूल एक ही है। तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा तर्कसंगति के प्रकारांतर के बावजूद लगभग एक ही प्रवाह में प्रवाहित होती हैं। इस दृष्टि से लोकायत भौतिकवादी विश्वदर्शन की आधारभूत प्रणालियों में से एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रणाली है। उसमें सातत्य है, जिसे विश्वचिंतन के गतिशील सातत्य की कड़ी के रूप में देखा जा सकता है।

भारतीय भौतिक चेतना की अनवरतता, वृहस्पति के कारवां के लोकायत की पृष्ठभूमि से आरम्भ होकर कपिल के सांख्य, पतंजलि के योग, कणाद के वैशेषिक, गौतम के न्याय तक के प्राचीन ग्रंथों तथा भारत के मध्य और आधुनिक काल के समस्त भौतिकवादियों की रचनाओं से लेकर देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय के शोधग्रंथ 'लोकायत' के विश्लेषण तक भौतिकवाद की निरंतरता को प्रमाणित करती है, जैसे हेराक्लिटस,

डेमोक्रेटस से लेकर हेगेल, मार्क्स-एंगेल्स तक की विकासयात्रा का प्रस्थान बिन्दु लोकायत जैसे प्रारम्भिक भौतिकवाद में दृष्टिगोचर होता है। भौतिकवाद और आध्यात्मवाद के संघर्ष के सातत्य के इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता को भी रेखांकित किया जाना चाहिए, क्योंकि चेतना का विकास ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुसार होता है। अत: भौतिक और आध्यात्मिक विचारों का संघर्ष भी उपर्युक्त सभी स्थितियों के परिवर्तन के साथ व्यावहारिक और चेतनिक दोनों प्रकार का होता है। जायदाद के लिए झगड़े भी होते हैं, महाभारत और विश्वयुद्ध भी, रामायण, महाभारत और गीता की रचना भी होती है, तो 'लोकायत' के सूत्रों को जलाया भी जाता है।

लोकायत की अनवरत प्रवाहमयता उसकी गतिशीलता का परिचय देती है। गतिशीलता अपने स्वभाव से द्वन्द्वात्मक होती है। लोकायत की द्वन्द्वात्मकता के कई स्वरूप हैं। उसका मुख्य विरोध आध्यात्मवाद से है। वह आध्यात्मवाद के केन्द्र परमात्मा के अस्तित्व को नकारता है, चार तत्वों के तात्विक स्वभाव से संसार की उत्पत्ति मानता है। वह ज्ञान के लिए शब्द और अनुमान को प्रामाणिक नहीं मानता, अत: उसके लिए वेदवाक्य, वैदिक कर्मकांड, पौरोहित्य, भाग्यफल व मुक्ति आदि से संबंधित धारणाएँ तथा आत्मा का शरीर से अलग अस्तित्व, परलोक, स्वर्ग-नर्क, पुनर्जन्म आदि से संबंधित कल्पनाएं केवल मात्र 'पंडिताऊ धूर्तता' है, अत: अग्राह्य हैं। उसके अनुसार सांसारिक वस्तुओं का त्याग (संन्यास) अव्यावहारिक है, उनके उपभोग में कोई अनैतिकता नहीं। भोग भोगने के लिए होता है, त्यागने के लिए नहीं। लोकायत ब्राह्मणवाद के विरोध में खड़ा होने के कारण वर्णव्यवस्था व जातिगत ऊंचनीच को अस्वीकार करता है। पुरोहिती कर्मकांड या ब्राह्मणवाद जब उच्चवर्ग का सहायक बन गया तो उच्चवर्ग और उसका पोषक आध्यात्मवाद लोकायत का परम शत्रु हो गया और उसे समूल नष्ट करने का उपकरण बन गया। आधुनिक काल के बहुआयामी द्वन्द्वात्मक चिंतन और व्यवहार के भीतर और बाह्य की जड़ों में लोकायत की उपस्थिति को दर्ज किया जा सकता है।

लोकायत में यथास्थितिवाद का निपेध करने की एक शक्तिशाली साहसिकता है और यही वह प्रवृत्ति हैजो प्रत्ययवादियों पर असह्य आघात कर सकी, जिसके फलस्वरूप पैदा हुई बौखलाहट और हताशा के वशीभूत उन्होंने उसका विध्वंस करने की साजिश रची। जड़ीभूत वातावरण का मुकाबला करने की पहल करना कभी खतरे से खाली नहीं रहा। लोकायत वह पहला प्रतिपेधक हथियार था, जिसने इस खतरे का सामना किया, और वही पहला दार्शनिक मूलपाठ था, जिसे शहीदाना भूमिका अदा करनी पड़ी।

पूर्वोक्त लोकेशु आयत: लोकायत एक लोकदर्शन है, लोक-कल्याणार्थ

लोकचिंतन, एक तत्कालीन लोकक्रांति, जनक्रांति की विचारधारा अर्थात् वह लोकचेतना की अन्तर्वस्तु है; जो तत्वचिंतनयुक्त है, तो इसके साथ ही वह उस समय के लोगों को दैविक और आध्यात्मिक भय से मुक्त करके कृषि-दस्तकारी आदि कार्यों में उत्पादन वृद्धि के नये उपाय खोज निकालने, आयुर्विज्ञान आदि का विकास करने, समाज को ऊंच-नीच के भेदभाव से ऊपर उठाने, जनमानस को ईश्वरीय या दैवी आतंक, वंश परम्परावाद, यमलोक, जन्मचक्र, अपरिग्रहवाद तथा अनेक अंधविश्वासों, आशंकाओं और आतंकों को छोड़कर समाज को बदल डालने की ओर प्रवृत्त करती है। लोकायत इस लक्ष्य की ओर इंगित करने वाला उस समय का सर्वाधिक प्रभावोत्पादक प्रेरणास्रोत था, इसीलिए 'होई है वही जु राम रचि राखा' वालों के लिए, 'हरि इच्छा प्रबल' व 'विधि विधान' वाले श्रुति-स्मृतिकारक आध्यात्मवादियों के लिए, ब्राह्मण क्षत्रियवादियों के लिए, वर्णव्यवस्थापकों के और उनके प्रत्यक्षपरोक्ष पक्षपोषकों के लिए वह एक असंधेय शत्रु समझा गया और उसका दाह-संस्कार कर दिया गया। वृहस्पति के लोकायत ने यह सिद्ध कर दिया कि स्थिरमतियों के लिए परिवर्तनकारी दृष्टिकोण का प्रकाश कितना असह्य हो जाता है।

7वीं सदी ई.पू. के लोकायत के सहस्राब्दियों बाद भौतिकवाद का आधुनिक विकास उन्नीसवीं सदी के द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में देखने को मिला। दर्शन के क्षेत्र में ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कार्ल मार्क्स की देन है। मार्क्स ने चिंतन जगत में एक खलबली मचा दी थी, जब उसने यह कहा— "अब तक दार्शनिकों ने संसार के अस्तित्व की केवल व्याख्या की है, मुख्य सवाल है उसे बदलने का!" निश्चय ही कार्ल मार्क्स ने दर्शन को दार्शनिक प्रोफेसरवाद के जंजाल से मुक्त कर उसे परिवर्तनकारी समाजशास्त्र के साथ संयुक्त करने का क्रांतिकारी चिंतन प्रस्तुत किया तथा द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में दर्शन की एक विकसित कड़ी सृजित कर दी। इसका अर्थ यह नहीं कि लोकायत मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की आधारशिला है। लोकायत को तत्कालीन भारतीय समाज की भौतिक, सामाजिक और वैचारिक परिस्थितियों में ही देखना उपयुक्त होगा, तो ऐतिहासिक भौतिकवाद को उन्नीसवीं सदी के परिप्रेक्ष्य में। हां, परिवर्तनकारी विश्वदृष्टिकोण के अनवरत प्रवाह में लोकायत भी एक ऐसा चेतनिक अन्तर्य्य है जिसके विरुद्ध तीव्र आक्रोश पैदा हुआ, उसे लांछित किया गया और उसे नष्ट कर दिया गया। आधुनिक विश्व में मार्क्स के विचारों ने भी उतना ही तीव्र विरोध पैदा किया, जो अब तक जारी है। बार-बार मार्क्स का जलावतन इसीलिए किया गया। आज भी सारी दुनिया में आध्यात्मवाद का सबसे बड़ा दुश्मन मार्क्सवाद है और आध्यत्मवाद की सारी गतिविधियां मार्क्सवादियों की गतिविधियों के विपरीत। जिस तरह लोकायत के भूत से आध्यात्मवाद आतंकित और बौखलाहट भरा हो चुका था

और उसने अपनी खुन्नस निकाली, आज मार्क्सवाद भी उसी तरह आध्यात्मवाद को कंपित करता जा रहा है।

लोकायत दुनिया के प्रथम भौतिकवादी चिंतन की अभिव्यक्तियों में है। वह भारत के भौतिकवाद का संस्थापक प्रतिनिधि भी है। उसका सबसे बड़ा महत्व इस बात में है कि वह सर्वांगीण भौतिकवादी है। वह किसी प्रकार की रहस्यवादी कल्पना में न तो स्वयं उलझा, न ही उसने दूसरों को भ्रम में डालने की कोशिश की। एक अप्रिय सत्य को बिना लाग-लपेट के बताने का काम लोकायत ने किया। उसने अपने सत्य को इतना सुरक्षित रखा कि उसमें क्षेपक जोड़ कर या उसमें मिलावट करके उसे विकृत करने की हिम्मत किसी में न रही। लोकायत में किसी आध्यात्मवादी का कपट मंत्र घुसपैठ नहीं कर सका। एक अपराजेय समकालीन भौतिकवादी विश्वचिंतन के रूप में लोकायत की तुलना में कोई भी प्राचीन दर्शन नहीं दिखाई देता। कहीं चौथाई, तो कहीं आधे, कहीं पौने तो कहीं लगभग भौतिकवादी विचारों ने तो दर्शन में प्रवेश पाया है— लेकिन सम्पूर्ण भौतिकवादी दर्शन तो लोकायत ही था। गाल बजाउओं ने भरपेट गालियां दीं, मजाक उड़ाया, व्यंगबाण छोड़े, कटाक्ष किए और फिर भी उसकी लोकप्रियता को चुनौती न दे सके, तो उसका मूलोच्छेदन कर डाला गया फिर भी जब लोकायत की प्रतिध्वनि ने उन कपटमुनियों में अपराधबोध पैदा कर दिया, तो उन्हें उसे अपने भाष्यों में बतौर सर्वाधिक शक्तिशाली शत्रु के रूप में स्वीकार करना पड़ा। लोकायत का प्रभाव उनके सर पर चढ़कर अपने अस्तित्व का एहसास कराने लगा। प्रत्येक आध्यात्मवादी को उसका खंडन करने के लिए उसे उद्धृत करना पड़ा— "जगत भूतात्मक है, इसका कारण प्राकृतिक है, ईश्वर नहीं है,न हो पुनर्जन्म, न परलोक (स्वर्ग-नर्क) और न मोक्ष।"

अनीश्वरवाद—प्रतीत्य समुत्पाद : बौद्ध एवं अनेकांत (स्यादवाद) : जैन

दर्शन का मूल विषय पदार्थ (भूतद्रव्य या प्रकृति) तथा चेतना (वैयक्तिक-सामूहिक) के विविध पहलुओं और पारस्परिक संबंध पर विचार करना होता है, किन्तु धर्म का क्षेत्र इससे बिल्कुल भिन्न है। धर्म दर्शन की तरह विचार-प्रधान नहीं होता, बल्कि वह व्यवहार-प्रधान होता है। वह पूजा-पद्धति होने के कारण कर्मकांड के नियमों से बंधा रहता है, जबकि दार्शनिक प्रणाली ऐसे किसी बंधन में नहीं बंधती। इसीलिए वैदिक दर्शन और वैदिक धर्म (कर्मकांड), बौद्ध दर्शन या जैन दर्शन और बौद्ध धर्म या जैन धर्म दोनों अलग-अलग हैं। दर्शन और धर्म के पारस्परिक विरोध इतने तीव्र हो सकते हैं कि एक ही धर्म का धार्मिक संप्रदाय उसी संप्रदाय के किसी दार्शनिक की हत्या भी कर सकता है, किन्तु किसी दार्शनिक ने किसी धार्मिक की हत्या की हो, इसका उदाहरण नहीं मिलता। दर्शन स्वतंत्र और स्वाधीन होता है, धर्म ईश्वराधीन या अदृश्य चेतनाधीन। दर्शन तर्क और प्रमाण को आधार बनाता है, जबकि धर्म तर्करहित आस्था से यंत्रचालित होता है। यद्यपि दर्शन और धर्म में यत्किंचित् आपसी संबंध ढूंढ़ा जा सकता है, किन्तु वह नितांत गौण होता है।

अतः किसी नामधारी दर्शनप्रणाली पर विचार करते समय उसके साथ उसी नामधारी धर्म या धार्मिक प्रणाली का घालमेल नहीं करना चाहिए। जब यहां बौद्ध और जैन दर्शन पर ध्यान केन्द्रित किया जा रहा हो, तो बौद्ध धर्म या जैन धर्म के प्रत्येक बिन्दु का विश्लेषण करने की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

महावीर और बुद्ध के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन विचारकों में अजित केशकंबल, मक्खलि गोशाल, पूर्णकाश्यप, प्रक्रुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्र और निगंठ नागपुत्र (महावीर) आदि का नामोल्लेख मिलता है। इनमें अजित केशकंबल और मक्खलि गोशाल को पूरी तरह भौतिकवादी चिंतक माना जाता है, बाकियों को आंशिक भौतिकवादी। इन्होंने ही जैन और बौद्ध दार्शनिक प्रणालियों के लिए आधारशिला रखने का कार्य किया। ये सभी वैदिक परंपराओं के विरोधी थे। जैन दर्शन

के प्रवर्तक होने के कारण इन्हें तीर्थंकर के रूप में विशेष तौर पर सम्मानित किया गया। जैन और बौद्ध पिटकों (त्रिपिटक—संयुक्त निकाय, मज्झिम निकाय और दीर्घ निकाय) में इनके विचारों का संकलन मिलता है। राहुल सांकृत्यायन ने 'दर्शन दिग्दर्शन' में अजित केशकंबल को भौतिकवादी, मक्खलि गोशाल को अकर्मण्यतावादी, पूर्णकाश्यप को अक्रियावादी, प्रकुध कात्यायन को नित्यापदार्थवादी और संजय वेलिट्ठपुत्र और निगंठ नागपुत्र (महावीर) को अनेकांतवादी के रूप में प्रतिष्ठित किया है। आगे वर्धमान महावीर को सर्वज्ञतावादी भी बताया गया है।

किसी दर्शनप्रणाली के प्रवर्तक के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं के उल्लेख पर विशेष ध्यान को केन्द्रित करना अनावश्यक होता है, क्योंकि उसके समर्थक उसे अतिरंजित रूप में और विरोधी उसे विकृत रूप में चित्रित करते हैं। दोनों प्रकार से उसकी जीवनी उसके विचारों की तह तक पहुंचने में पूरी मदद नहीं करती। आत्मकथा या आत्मकथ्य भी अहंकार, छिपाव-दुराव एवं प्रयोजन की वजह से तर्कसंगति को प्रदूषित कर सकते हैं। इसलिए विश्लेषण प्रक्रिया में स्थूल घटनाओं का सहारा आवश्यक होने पर ही लिया जाना चाहिए, अन्यथा उनके विस्तार से बचना ही उपयोगी हो सकता है। इसी लिहाज से यहां महावीर और बुद्ध के विचारों अर्थात् जैन और बौद्ध दर्शन पद्धतियों को ही केन्द्र-बिन्दु में रखा गया है।

वैसे बौद्ध और जैन सहोदर से प्रतीत होते हैं, क्योंकि दोनों समकालीन और वैदिक कर्मकांडवाद के विरोध में खड़े हुए थे। यह अलग बात है कि धर्म के रूप में वे भी अपने-अपने कर्मकांडों की रूढ़ियों में कैद हो गए थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि बौद्ध भारत के अलावा अन्य देशों में फैल गया, जबकि जैन देश की परिधि तक ही बना रहा।

बौद्धचिन्तन-I सदाचार— दुःख जीवन का मूल यथार्थ है। चार महासत्य हैं— दुःख (दुःखों की वस्तुस्थिति), समुदय (दुःखों का कारण), निरोध (निवारण की संभावना) और मुक्ति (निराकरण का मार्ग)। बुद्ध ने इन्हें आर्यसत्य कहा।

(1) दुःख सत्य—पांच उपादन स्कंध (तृष्णाविषयक) दुःख हैं— रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान।

(क) रूप—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि

(ख) वेदना—सुख-दुःख की अनुभूति

(ग) संज्ञा—पहचान

(घ) संस्कार—रूढ़ धारणा

(ङ) विज्ञान—चेतना

(2) दुःख हेतु—तृष्णा-काम या भोग, भव और विभव की तृष्णाएँ

(3) दुःख निरोध—तृष्णा का संपूर्ण परित्याग अर्थात् कामना के निरोध से

भव (जन्म, बुढ़ापा, दुःख, मरण) का निरोध और भव के निरोध से विभव (पुनर्जन्म) का निरोध अर्थात् सब दुःखों का परित्याग।

(4) दुःख मुक्ति का मार्ग—(आर्य अष्टांग मार्ग)—तीन भागों में 1. ज्ञान, (प्रज्ञा), 2. सदाचार (शील) और 3. योग (समाधि)

1. ज्ञान—(क) सम्यक् दृष्टि, (ख) सम्यक् संकल्प

2. सदाचार (शील)—(क) सम्यक् वचन, (ख) सम्यक् कर्म, (ग) सम्यक् जीविका।

3. योग—(क) सम्यक् प्रयत्न, (ख) सम्यक् स्मृति, (ग) सम्यक् समाधि।

ज्ञान—(क) सम्यक् दृष्टि (भले-बुरे का बोध)

	बुरा	भला
कायिक	हिंसा	अहिंसा
	चौर्य्य (चोरी)	अचौर्य्य
	व्यभिचार	अव्यभिचार
वाचिक	मिथ्या भाषण	सत्य भाषण
	निन्दा	अनिन्दा
	कटु वाणी	मृदु वाणी
	व्यर्थ वार्ता	सार्थक वार्ता
मानसिक	लोभ	निर्लोभ
	प्रतिहिंसा	अप्रतिहिंसा
	मिथ्या धारणा	सही धारणा

(ख) सम्यक् संकल्प—रागद्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा रहित सही संकल्प शील—वाणी, कर्म और जीविका में पवित्रता।

समाधि—(1) अभ्यास—इंद्रियनियंत्रण, बुरी भावनाओं पर नियंत्रण, सद्भावों का उत्पादन।

(2) स्मृति—कायिक, वाचिक, मानसिक विकृतियों का स्मरण रखना।

(3) समाधि—चित्त की एकाग्रता

2. दर्शन—(1) क्षणिकवाद—विश्व की सारी वस्तुओं को स्कंध, आयतन, धातु में से किसी एक प्रक्रिया में विभाजित किया जा सकता है:—

स्कंध (पांच)—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान

आयतन (बारह)—छः इंद्रिया+छः गुण

आंख—रूप

कान—शब्द

नाक—गंध

जीभ—रस

त्वचा—स्पर्श

मन—वेदना, संवेदना।

धातु (अठारह)—छ: इंद्रियां+छ: इंद्रियों के विषय (उपर्युक्त), छ: विज्ञान (चक्षु विज्ञान, श्रोत्र विज्ञान, घ्राण विज्ञान, जिह्वा विज्ञान, काय विज्ञान, मन विज्ञान)

उपर्युक्त स्कंध, आयतन और धातु में से किसी में गिनी जाने वाली हों, वे सभी वस्तुएं अनित्य और क्षणजीवी हैं। अत: यह विश्व अनित्य है। इसमें दु:ख है। यह अनात्म है।

(2) प्रतीत्य समुत्पाद— 'इसके होने पर यह होता है' (अस्मिन सति इदं भवति— मज्झिम निकाय, 1-4-8 अनुवाद—राहुल सांकृत्यायन 'दर्शन-दिग्दर्शन, 366)। इसके अर्थात् एक बीजवस्तु के अस्तित्व के नाश की स्थिति में पहुंचने के बाद दूसरी बीजवस्तु का वैसा उत्पाद (प्रतीत्य समुत्पाद) अस्तित्व में आता है। पहले बीज उत्पाद के लुप्त होने का क्षण एक विराम या विच्छिन्नता है जो कारण बनती है और उससे वैसी उत्पत्ति अर्थात् समुत्पाद एक उत्पादन प्रवाह है जो कार्य बन जाता है। अत: प्रतीत्य समुत्पाद विच्छिन्न प्रवाह को सूचित करता है। विच्छिन्नता में बौद्ध दर्शन का प्रतीत्य भी है, क्षणिकवाद भी है तो प्रवाहकता में समुत्पादकता भी इसलिए यह प्रतीत्य समुत्पाद विच्छिन्न प्रवाह के रूप में देखा जाता है। क्षणिकवाद की अनित्यता प्रत्येक समुत्पादित वस्तु के नाश के ही कारण है। उपनिषद् में जो अविनाशी आत्मा की बात कहते हैं, बौद्ध उसे महान अविद्या और अविवेक मानते हैं। प्रतीत्य समुत्पाद में अजर-अमर आत्मा के अस्तित्व का निषेध है।

प्रतीत्य समुत्पाद बारह अंगों वाला माना जाता है। अविद्या इसके बारह अंगों के चक्र में स्वयं को घुमाती रहती है। अविद्या (निदान या कारण) से संस्कार, संस्कार से विज्ञान (चेतना), विज्ञान से नामरूप, नामरूप से छ: आयतन (इंद्रियां), आयतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान (ग्रहण या ग्रहण करने की इच्छा), उपादान से भव (आवागमन), भव से जाति (जन्म), जाति (जन्म) से जरामरण का द्वादशांगी प्रतीत्य समुत्पाद अनवरत गतिशील रहता है।

बौद्धदर्शन की एक विशेषता है कार्य-कारण का परस्पर संबंध बताना और उसकी शृंखलाबद्ध तर्कसंगति। उसकी दूसरी, किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है— यथास्थितिवाद या अनश्वरता का निषेध अर्थात् आत्मा और परमात्मा की अमरता को नकारना या कि आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करना। बौद्ध पुरातन के विनाश या उसके निषेध को स्वीकार कर उसके रूपांतरण या परिवर्तन की प्रक्रिया के सतत प्रवाह को प्रतीत्य समुत्पाद के रूप में प्रस्थापित करते हैं और इस अर्थ में निश्चय ही वे रूढ़िग्रस्त परंपरावादियों या आध्यात्मवादियों से लोहा लेते हैं, अपनी

प्रगतिशीलता को प्रमाणित करते हैं।

बुद्ध ने उपनिषदिक आत्मा के इंद्रियगोचर और इंद्रिय अगोचर होने की, दोनों प्रकार की धारणा को 'सत्काय-दृष्टि' कहा। 'सत्काय' शब्द को आत्मा तत्व के काया में विद्यमान किन्तु काया से भिन्न अमरतत्व के अर्थ में प्रयुक्त किया गया। उपनिषद् आत्मा को नित्य और शाश्वत मानते हैं जबकि बुद्ध के अनात्मवाद में सबकुछ अनात्म और अशाश्वत है—"रूप अनात्म है, वेदना अनात्म है, संज्ञा - - - संस्कार — - विज्ञान - - सारे धर्म (क्रिया) अनात्म हैं।" (म नि.—चूलसच्चक-सुत-'दर्शन-दिग्दर्शन'-400)

बौद्धदर्शन *अनात्मवादी भी है और अनीश्वरवादी भी। प्रतीत्य समुत्पाद में* ईश्वर के अस्तित्व अथवा सृष्टिकर्ता के रूप में किसी के अस्तित्व की कोई गुंजायश नहीं रखी गई।

बौद्ध क्षणवाद में प्रारम्भिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन होते हैं। यहां बुद्ध के क्षणभंगुरता की अवधारणा की तुलना यूनान के हेराक्लिट्स के प्रारम्भिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से की जा सकती है। अपनी कमजोरियों के बावजूद यह आदिमकालीन द्वन्द्वात्मकता परिवर्तनशीलता की सार्विकता के बीजांकुरण का परिचय देती है। *उपनिषदीय यथास्थितिवाद को एक बहुत बड़ी चुनौती थी। बुद्ध के बारह अंगी प्रतीत्य* समुत्पाद के अंतर्गत बताए गए अविद्या चक्र को देखने पर, उससे ढाई हजार साल बाद फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा लिखित 'डायलेक्टिस ऑफ नेचर' के इस अंश की ओर ध्यान आकृष्ट होता है— "यह एक कभी न बन्द होने वाला चक्र है, जिसमें पदार्थ के अस्तित्व का प्रत्येक परिमित रूप, फिर यह चाहे सूर्य हो अथवा नीहारिका वाष्प, कोई एक पशु हो अथवा पशुओं की नस्ल हो, कोई रासायनिक सम्मिश्रण हो अथवा विभाजन हो, समान रूप से क्षणभंगुर है और इसमें कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं, वह केवल *अनवरत रूप से बदलती रहती है, वह केवल अनवरत रूप से गतिशील पदार्थ* और वे नियम हैं, जिनके अनुरूप वह गतिमान और परिवर्तनशील है।"

बौद्ध और लोकायत के भौतिकवाद में अंतर यह है कि लोकायत संसार से संन्यास अथवा सांसारिक भोगवस्तु से त्यागवाद को निरर्थक मानता है, जबकि बौद्ध आत्मदमन, त्याग और तपस्या को अपनाना दुखमुक्ति के मार्ग के रूप में अनिवार्य मानता है। ईश्वर के विषय में कुछ न कहने और संयम तथा *त्याग को आवश्यक बताने* के कारण बौद्ध चिंतन को आध्यात्मवाद के दायरे में घसीटने के डॉ. राधाकृष्णन के प्रयास को कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा है। बुद्ध के अकथनीय या अव्याकृत सोच बिन्दु को लेकर राधाकृष्णन जैसे भाववादी दार्शनिक ऐसी अदार्शनिक कोशिशें करते रहे हैं।

फिर भी बौद्ध का एक सिरा भौतिकवाद से दूर हटकर आदर्शवाद के खेमे में

प्रवेश कर जाता है। अब उसका स्वरूप दर्शन न रह कर धर्म बन जाता है। वह पदार्थ की परिवर्तनशीलता की उपेक्षा कर चेतना के चक्र में घूमने लगता है। वह उसी अविद्या में फंसकर स्वयं को उसी रूप में पुनः उत्पादित कर लेता है। यह पुनर्जन्म की अवधारणा की छद्म स्वीकृति है। इसी पुनरागमन की अवधारणा ने आध्यात्मवाद के धारकों को यह हौसला दे दिया कि वे बुद्ध को भगवान के अवतार के रूप में प्रचारित करने लगे। अब बौद्ध दर्शन पर बौद्ध धर्म हावी हो जाता है और आगे चलकर वह हीनयान और महायान जैसे संप्रदायों में विभाजित होकर अन्तर्विरोधों में उलझने लगता है। सांप्रदायिकता की संकीर्णता पैदा होती है जब दर्शन को धर्म का रूप दे दिया जाता है। बुद्ध का त्यागसमन्वित रहस्यमय आदर्शवाद ही वह मोक्षानंदात्मक मध्यमार्ग है जो बावजूद उनके अनात्मवाद व अनीश्वरवाद के उन्हें भौतिकवाद से दूर ले जाकर आध्यात्मवाद के किनारे तक पहुंचा देता है।

जैन दर्शन— 'जैन' का अर्थ 'जिन' या 'जिनेन्द्र' के मतावलंबियों से है, जो उनके सर्वप्रथम परमपूज्य माने जाते हैं। जिनेन्द्र लगभग ई.पू. 8वीं सदी के आरम्भ या उससे कुछ पहले रहे होंगे। वर्धमान महावीर चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर माने जाते हैं। जैनी 'तीर्थंकर' शब्द को सर्वज्ञ, ज्ञानवान, प्रणेता, चिंतक, परमपूज्य अथवा पैगम्बर के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं।

तीर्थंकरों की संख्या 24 रही है। उत्सर्पिणी काल या अतीत (भूतकाल) की चौबीसी हो, चाहे अवसर्पिणी काल अर्थात् वर्तमान काल की चौबीसी अथवा अनागत या भविष्य काल की चौबीसी—तीर्थकरों की संख्या—24 में अंतर न आया, न आयेगा। तीनों कालों के लिए अलग-अलग सूचियां हैं, जिनमें कुछ नाम एकसे हैं। संदर्भानुसार यहां केवल ई.पू. 8वीं सदी 6ठी सदी तक की अवसर्पिणी काल अर्थात् वर्तमान की चौबीसी की सूची प्रस्तुत है—

(1) ऋषभदेव या आदिनाथ, (2) अजितनाथ, (3) संभवनाथ (4) अभिनंदन नाथ, (5) सुमति, (6) पद्मप्रभ, (7) सुपार्श्वनाथ, (8) चन्द्रप्रभ, (9) पुष्पदन्त, (10) शीतलनाथ, (11) श्रेयांसनाथ, (12) वासुपूज्य, (13) विमलनाथ, (14) अनंतनाथ, (15) धर्मनाथ, (16) शांतिनाथ, (17) कुंथुनाथ, (18) अरनाथ, (19) मल्लिनाथ, (20) मुनि सुव्रतनाथ, (21) नमिनाथ, (22) नेमिनाथ, (23) पार्श्वनाथ और (24) वर्धमान महावीर। (स्रोत—हिन्दी विश्वकोश)।

जिन अथवा जिनेन्द्र परमपूज्य हैं जिनकी मूर्तियां दिगम्बर हैं। तीर्थंकरों के शिष्यों को निगंठ कहा जाता था।

महावीर से पहले तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ थे। पार्श्वनाथ से पूर्ववर्ती 22 तीर्थंकरों का कार्यकाल आठवीं से छठी सदी ई.पू. तक रहा होगा, क्योंकि वर्धमान

महावीर जो अंतिम तीर्थंकर थे, उनका कार्यकाल ई.पू. 566-485 माना जाता है। वे गौतम बुद्ध (ई पू. 563) से तीन साल पहले पैदा हुए थे।

महावीर से पहले अजित केशकंबल, मक्खलि गोशाल, पूर्णकाश्यप, प्रकुध कात्यायन, संजयवेलट्ठिपुत्र आदि महत्त्वपूर्ण विचारक रहे हैं। अजित केशकंबल भौतिकवादी था। उसने दान, यज्ञ, हवन, कर्मफल, लोक-परलोक, स्वर्ग-नर्क, पुनर्जन्म, आत्मा, देवता-ईश्वर आदि को दृढ़ता से नकार दिया। मक्खलि गोशाल के अनुसार सुख-दुख, उत्थान-पतन, जरामरण आदि सभी को समान रूप से भोगने पड़ते हैं, चाहे कोई मूर्ख हो या पंडित। पूर्णकाश्यप कर्मफल और पाप-पुण्य को निरर्थक घोषित करता है। प्रकुध कात्यायन चार महाभूतों तथा चेतना के साथ सुख-दुःख को भी अलग तत्व मानता है।

'इंडियन फिलोसोफी' (132) में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने जैन दर्शन की परंपरा के विषय में लिखा है कि "जैन दर्शन को व्यवस्थित रूप से उजागर करने का स्रोत उमास्वाति द्वारा रचित 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' था, जिसे दिगंबर और श्वेतांबर दोनों ने अपना बताने का दावा किया। इसी रचना के आधार पर बाद के सारे जैन दर्शन का विकास हुआ है। जैन दर्शन के विकास का एक लंबा इतिहास है और उसमें उसके पक्षपोषक तार्किकों की लंबी कतार है जो इसकी विरासत की संरक्षक रही है। इसमें सबसे प्रमुख जिसे दोनों की मान्यता है, वह अकलंका है। किन्तु उससे पूर्व श्वेतांबरी सिद्धसेन व दिगंबरी समंतभद्र हुए एवं बाद में विद्यानंद और प्रभाचन्द्र (दिगम्बर) तथा हरिभद्र, हेमचंद्र और यशोविजय (श्वेतांबर) हुए। इनमें हेमचन्द्र जैन चिंतकों में सर्वप्रमुख विचारक, कवि, वैय्याकरण, तर्कशास्त्री और विशेष प्रतिभावन व्यक्ति थे।"

प्राचीन विश्वदर्शन में जैन दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका अथवा उसकी देन रही है उसकी अनेकांतवाद व स्याद्वाद की चिंतन प्रणाली, जो आज भी उतनी ही जीवंतता के साथ प्रतिष्ठित है। वैदिक आध्यात्मवादी शाश्वतता को सबसे गहरा आघात इसी अवधारणा ने पहुंचाया है। उसने रहस्यवादी अटलता के घटाटोप को छिन्न-भिन्न कर दिया। अनेकांत या स्याद्वाद के प्रणेता संजय वेलट्ठिपुत्र और वर्धमान महावीर थे।

(निंगठनातपुत्र या निग्रंथ ज्ञातपुत्र-बौद्धानुसार)

संजयवेलट्ठिपुत्र और वर्धमान महावीर ने अनेकांतवाद का प्रतिपादन किया। दोनों लगभग गौतम बुद्ध के समकालीन तीर्थंकर थे। संजय से जब परलोक, देवता या ईश्वर, कर्मफल अथवा तथागत या मुक्तपुरुष आदि के अस्तित्व के विषय में पूछा गया, तो उन्होने उत्तर दिया, नहीं कह सकता कि परलोक है या उसका कोई अस्तित्व है, नहीं कह सकता कि परलोक नहीं है अथवा उसका अनस्तित्व है, मैं यह भी नहीं

कह सकता कि परलोक का नहीं भी नहीं है, अनस्तित्व का अनस्तित्व है। फलतः नहीं कह सकता कि परलोक है भी, नहीं भी। परलोक न है और न नहीं है। इसी तरह देवता या ईश्वर, कर्मफल अथवा मुक्ति, मुक्तपुरुष या तथागत के विषय में नहीं कह सकता कि वे हैं भी, नहीं भी, हैं और नहीं दोनों ही। इस प्रकार (1) अस्तित्व, (2) अनस्तित्व, (3) अस्तित्व-अनस्तित्व दोनों का होना, और (1) और (4) अस्तित्व-अनस्तित्व दोनों का न होना—ये चार अनेकांती अव्यक्तव्य हुए।

वर्धमान ने इसके विपरीत समाधान दिया— स्याद् अस्ति (होना संभव), स्याद नास्ति (होना संभव नहीं), स्याद् अस्ति-नास्ति च (होना, न होना दोनों संभव)। (1) अस्तित्व, (2) अनस्तित्व, (3) अस्तित्व—अनस्तिव-ये तीन संभावित घटक हैं। सीधे शब्दों में हैं, नहीं और हैं भी—नहीं भी।

जैन विचार के अनुसार अस्तित्व-अनस्तित्व के विषय में कोई निश्चित बात कहना संभव है भी, नहीं भी (वक्तव्य-अवक्तव्य दोनों)। 'हां'-'ना', अस्ति-नास्ति सब परिस्थिति सापेक्ष है, अतः कहा भी जा सकता है, नहीं भी कहा जा सकता।

उपर्युक्त संजय के चार अंगों के साथ बाद के महावीर के तीन अंगों को मिलाकर परिशोधित जैन चिंतन सात अंगोंवाला इंद्रधनुष हो गया। अब उसका विकास इस प्रकार हुआ—

(1) वह यहां है ?—हो सकता है (स्याद् अस्ति)

(2) वह यहां नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है (स्याद् नास्ति)

(3) क्या वह यहां है भी और नहीं भी है ?—है भी और नहीं है भी, हो सकता है (स्याद अस्ति नास्ति च)

(4) वह हो सकता है (स्याद्) क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है ?- नहीं, 'स्याद' यह अवक्तव्य है।

(5) वह यहां हो सकता है (स्याद अस्ति) क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है ?— नहीं, वह यहां हो सकता है, यह नहीं कहा जा सकता (अवक्तव्य)

(6) वह यहां नहीं हो सकता (स्याद् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है (वक्यव्य) है ?—नहीं, वह यहां नहीं हो सकता, यह नहीं कहा जा सकता (अवक्तव्य)।

(7) वह यहां हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है (स्याद् अस्ति स्याद् नस्ति च)— क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है ?—नहीं, वह यहां हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है—यह नहीं कहा जा सकता (अवक्तव्य)

समकालीन होने के कारण जैन और बौद्ध दोनों का आगमन समसामयिक आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में संभव हुआ। दोनों ने सामुदायिक कबीलाई सर्वात्मवादी मान्यताओं को ग्रहण किया। दोनों दार्शनिक प्रणालियों में एक ओर

लोकायतिकों के उस भौतिकवाद का प्रभाव दिखाई देता है, जो ब्राह्मणों के पुरोहितवादी याज्ञिक कर्मकांडों और वैदिक आदर्शवाद के विरुद्ध अनवरत संघर्ष के रूप में खड़ा है, तो दूसरी ओर दोनों में लोकायतिकों के उस विचार का विरोध भी दिखाई देता है, जिसमें लौकिक वस्तुओं के भोग की स्वीकृति दी गई है। जैन और बौद्ध दोनों इंद्रिय संयम, अहिंसा और अपरिग्रह के जीवन का मूल आचरण मानते हैं। यहां वे आदर्शवादी अवधारणाओं की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं। एक तरह से यह आध्यात्मवाद के विरुद्ध संघर्ष के साथ समन्वय की स्थिति है।

जैन दार्शनिकों ने स्यादवाद के अन्तर्गत अपनी पूर्ववर्ती अवधारणाओं में वर्णित सत्य को आंशिक सत्य कहकर उसके पूर्ण अस्तित्व को संभावना-असंभावना की अपेक्षाओं में अन्तर्ग्रथित कर दिया। पूर्ण सत्य को वे एकांतिक स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार पूर्ण सत्य अनेकांतिक-अनेकांत होता है। सत्य या यथार्थ की यह अनेकांतता या उसकी पक्षवहुलता स्याद्गुच्छ को या कि संभावना समूह को पूर्वनिर्धारित करती है। स्थिति सापेक्षता संपूर्ण स्वीकृति या संपूर्ण निषेध की संभावना नहीं रहने देती।

उनकी मान्यता है कि यथार्थ या सत्य सीधा सपाट न होकर जटिल और संश्लिष्ट होता है। इसका कोई एक ही पक्ष या एक ही पहलू निर्णायक नहीं होता। यह ब्रह्मांड या जगत अगणित अणु और अगणित आत्माएं हैं, ये अनेक यथार्थ हैं और एक-दूसरी इकाई में स्वतंत्र रूप से विद्यमान हैं। प्रत्येक भौतिक अणु और प्रत्येक आत्मा में अनेक गुणधर्म हैं। अनेक रूप, अनेक गुणधर्म वाला अत्यधिक सम्मिश्रित, अनंत धर्मावस्तुयुक्त व सतत परिवर्तनशील जगतयथार्थ या ब्रह्मांड इतना अन्तर्ग्रथित है, इतना गतिसापेक्ष है कि उसके देशकाल और अस्तित्व के किसी एक ही पहलू को पहचान कर तार्किक निर्णय तक नहीं पहुंचा जा सकता, उसके संपूर्ण का वर्णन नहीं किया जा सकता। मानवीय ज्ञान की सीमाएं अनेकांत वस्तु सत्य को पकड़ पाने में असमर्थ रहती हैं। अत: वस्तुसत्य को संभावना या स्याद् अस्ति, स्याद नास्ति, स्याद् अस्ति नास्ति च अर्थात् संभव है, यह है, यह नहीं है, यह हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता या होने और न होने की संभावना आदि में वक्तव्य-अव्यक्तव्य है।

जैन दर्शन पुद्गल (पदार्थ) को एक नित्य द्रव्य मानता है, जो सभी का एकमात्र आधार है। वह अस्तिकाय व अनस्तिकाय दोनों है। अस्तिकाय जीव व अजीव में विभक्त है। आत्माएं या जीव चेतन हैं—निम्न स्तर में जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व पेड़-पौधों में रहते हैं। देशकाल, पदार्थ (पुद्गल), धर्म (गति), अधर्म (स्थिरता की अवस्था)—अजीव द्रव्य या वस्तु है। जीव आनंद लेने वाला है, अजीव आनंद देने वाला। जीव भोगने वाला है, अजीव भोज्या।

स्यादवाद या अनेकांतवाद अथवा अनेकतंत्रवाद में 'है, हो सकता है' के साथ

उसी को 'नहीं है, नहीं भी हो सकता' के रूप में डालकर द्वन्द्वात्मकता का आभास दिया गया है। सापेक्षता के साथ द्वन्द्वात्मकता के बीजांकुरण को लेकर आधुनिक काल के दार्शनिक द्वन्द्ववाद और सापेक्षवाद के विकास की यात्रा की जा सकती है।

जैन के अनुसार जीव का सार चेतना में निहित है। वह उसके द्वारा वस्तुओं को देखता और पहचानता है, उनसे सुख पाने की लालसा करता है या दुख से आतंकित होता है। छोटे अथवा अचल या स्थावर जीव मिट्टी, जल, अग्नि और वायु में विचरने वाले जीव हैं, जिन्हें केवल स्पर्शबोध ही होता है। उच्च श्रेणी के जीव त्रस अथवा चल जीव कहलाते हैं, जिन्हें एक से अधिक का बोध होता है, जैसे चींटियों को तीन, मधुमक्खियों को चार और उच्चतर श्रेणी के जीव, जैसे पशुओं और मनुष्यों को पांच (रूप, रस, गंध, स्पर्श और संवेद) का। आत्मा पदार्थ में स्थित होती है, जो अजीव है।

पदार्थ (पुद्गल) शाश्वत है। उसका कोई रचनेवाला नहीं है। न उसका आदि है न ही अन्त। उसमें प्राण, स्वाद, ध्वनि, रंग, स्पर्श और मात्रा या संख्या के गुण हैं। प्रत्येक भौतिक वस्तु का उद्भव पदार्थ से ही हुआ है और यह पदार्थ सूक्ष्म कणों और परमाणुओं से बना है। परमाणुओं के योग से ही प्राकृतिक वस्तुएं और उनका बोध कराने वाला मस्तिष्क, श्वास, और मानवीय संवेदनाएं उजागर होती हैं। प्रत्येक परमाणु का आकाश (देश) का बिन्दु घेरता है, उसमें भार होता है, वह स्वभावतः गतिशील होता है। गतिशील परमाणुओं के जुड़ने और बिखरने से जगत में परिवर्तन होते हैं। परमाणुओ की सतत गतिशीलता से विकास होता है और वे नये-नये रूप-गुण प्राप्त करते हैं। इस विकास की प्रक्रिया में पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि तत्वों का निर्माण हुआ है। साथ ही इनके चार गुण स्पर्श, स्वाद, गंध और रंग भी सामने आए जो परमाणुओ में अन्तर्निहित हैं। गुण पदार्थ से अलग नहीं किए जा सकते। मस्तिष्क और पदार्थ मे एक सापेक्ष संबंध है अर्थात् चेतना और पदार्थ में भी वैसा ही संबंध है।

जैन मतानुसार पदार्थ की संख्या मे परिवर्तन नहीं होता, जो परिवर्तित होता है वह भौतिक शरीर या भौतिक द्रव्य है। वह जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट भी होता है। इस उत्पत्ति और नाश का कारण वस्तु या द्रव्य में 'तादात्म्य में अंतर' (भेदाभेद) अथवा अन्तर्विरोध का होना है।

जैन चिंतन में ब्रह्मांड को स्थूल व सूक्ष्म परमाणुओं का संगठन माना गया है। अणु परमाणुओं की इकाई है, वह एक संपूर्ण वस्तु है जिसमें स्वाद, गंध, रंग, ताप व स्पर्शनीयता है। अणुओं के संचय होने के कारण परमाणवीय पदार्थ में भी रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुण हैं। अणु के गुण नित्य, असीमित, अनिर्मित और अभेद्य हैं। अतः पदार्थ के गुण भी नित्य, असीमित व अभेद्य हैं।

जैन के उपर्युक्त परमाणुवाद की तुलना लुक्रेटिअस से की जा सकती है। वी.

ग्रोदोव के अनुसार, "प्राचीन ग्रीक व भारतीय परमाणुवादी दृष्टिकोणों में एक प्रमुख अंतर यह है कि जहां ग्रीक संख्या के आधार पर गुण को समझने का उद्यम कर रहे थे वहीं भारतीय इसकी विपरीत दिशा की ओर चले, संख्या को गुण के आधार पर समझने में।

('आधुनिक काल में भारतीय दर्शन' 78)

जैन विचारकों ने प्रतिपादित किया कि बिना सही आचरण के ज्ञान को पूर्ण नहीं बनाया जा सकता। सम्यक् (सही या उचित) दर्शन, सम्यक् चरित या सम्यक् आचरण को त्रिरत्न (तीन सिद्धांत) माना गया है जो जैनाचार के मूल आधार हैं। पूर्ण आस्था, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आचरण से ही मोक्ष के मार्ग की तरफ बढ़ा जा सकता है। पांच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अदत्त दान विरमण (न दिए दान से परहेज), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अथवा संग्रहवृत्ति का त्याग। जैन की तरह सम्यकता का विचार बौद्धों में भी रहा है।

जैन का अनेकांत वास्तव में एक ऐसे मध्यमार्ग की तलाश थी, जो एक ओर उपनिषदों के अनादि, अंत, सनातन यथार्थ की ओर सिंहावलोकन जैसा है तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धांत के अनवरत प्रवाह (प्रतीत्य समुत्पाद) की ओर उन्मुखता किए जैसा।

जैन आत्मा की अमरता को स्वीकारते हैं, जबकि बौद्ध आत्मा के वास्तविक अस्तित्व को ही नकारते हैं। जैन का 'निर्वाण' आत्मा का निषेध नहीं, बल्कि वह आत्मा की उस सहज या स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना है जब वह अशरीरी अस्तित्व में हो। तीर्थंकर या अरिहंत त्रिरत्न के माध्यम से उस स्थिति को अर्थात् निर्वाण को प्राप्त करते हैं। जैन और बौद्ध दोनों इस बात में सहमत हैं कि ईश्वर अथवा सर्वोच्च सत्ता जैसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं है।

बौद्ध की तरह जैन दर्शन भी अधिकांशतः भौतिकवादी होते हुए भी आंशिक रूप से आदर्शवादी है। वह शक्तिशाली तर्कों के आधार पर जगत का विश्लेषण करता है। उसमें द्वन्द्वात्मकता और सापेक्षता के बीजांकुर हैं। मध्ययुग में आते-आते बौद्ध और जैन अनुयायियों ने दोनों दर्शनों की अपने-अपने अनुसार अलग व्याख्याएँ संपादित कर डालीं। इससे दोनों अपने-अपने विभिन्न संप्रदायों में बंट गए। धार्मिक क्रियाओं में रूढ बन कर बौद्ध हीनयान, महायान और जैन दिगंबर, श्वेतांबर की शाखाओं में विभाजित होकर पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धाओं में टूटने-फूटने लगे। जो वैदिक पुरोहितवाद और वर्णव्यवस्था के विरोध में खड़े हुए थे, वे स्वयं अपने अन्तर्विरोधी कर्मकांडों के केन्द्रों की स्थापनाओं में लग गए। मठ, मंदिर, उपासरे आदि इसी के परिणाम हैं।

जैन और बौद्ध दर्शनों के आरंभिक काल की आर्थिक और सामाजिक

परिस्थितियां एकसी थीं। दोनों की पृष्ठभूमि में सामुदायिक कबीलाई व्यवस्था का समूहवाद, सर्वात्मवाद समाया हुआ था। दोनों के सामने दासप्रथा के ध्वस्त होते अवशेष और सामंती व्यवस्था के प्रथम चरण के आर्थिक शोषण और दलित उत्पीड़न से उत्पन्न दुःखमय सामाजिक वातावरण था। वैदिक काल की वर्णव्यवस्था ने शूद्रों पर अत्याचारों का अंबार खड़ा कर दिया था और धार्मिक कर्मकांड, पुरोहिती पूजाविधान ने एक ऐसा जातिभेद व ऊंच-नीच पैदा कर दिया था कि जिससे दमितों-दलितों के लिए दुःखों और पीड़ाओं में जलते, कटते और मरते हुए जीने के अलावा कुछ भी बाकी न बचा था। ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने सिद्ध-साधक की भूमिका अपना रखी थी। सिद्धांतकार शोषण उत्पीड़न को परिपुष्ट करने के सिद्धांत गढ़ते थे, प्रचार करते थे। पाखंड ही धर्म और कर्म था तथा रहस्य के पर्दे में सोया ईश्वर। अंधविश्वासों ने जनसाधारण को जकड़ लिया था। हिंसा और पशुबलि दैवतुष्टि की आवश्यकता बन चुकी थी। समग्र रूप से देखा जाय तो वैदिक चिंतन की कबीलाई प्रकृतिवाद और सर्वात्मवाद की विरासत जैन और बौद्ध की दत्तवस्तु बन गई थी। आदिम भौतिकवाद और साथ ही आदिम आदर्शवाद ने भी दोनों के लिए आधार भूमि तैयार की। इस प्रकार एक संकलित धरोहर का उपयोग उनके अधिकार क्षेत्र में था। प्रारूप के अनुसार इस तरह दृष्टव्य हो सकता है—

	समाज	चिंतन
1.	कबीलाई व्यवस्था या आदिम साम्यवाद (ऋग्वेद के पूर्वार्द्ध तक)	प्रकृतिवाद या आदिम भौतिकवाद गणचिन्हवाद, सर्वात्मवाद, जादू-टोना अंधविश्वास, वर्गवर्णहीन समूहवाद।
2.	गणव्यवस्था, दास-मालिक वर्गवर्णव्यवस्था (ऋग्वेद का उत्तरार्द्ध और उपनिषद् काल)	भौतिकवाद, एकात्मवाद, अज्ञेयवाद, वर्गवर्ण भेदभाव
3.	दास प्रथा का शेषांश और सामंतवाद का उदय (लोकायत, जैन-बौद्ध का उदय)	उपर्युक्त 1 और 2 के साथ लोकायत का प्रभाव, नाश और शेष प्रतीत्य समुत्पाद, अनेकांतवाद
4.	उपर्युक्त व्यवस्थाओं के शेष और विकसित सामंतवाद (जैन और बौद्ध का विकास)	उपर्युक्त दार्शनिक प्रणालियों की समेकीकृत विरासत और विकसित जैन और बौद्ध चिंतन

आठवीं सदी ईसा पूर्व से छठी सदी ई.पू. में वैदिक (कर्मकांडी) आर्य, अवैदिक (कर्मकांड विरोधी) आर्य और अनार्य प्रणेताओं द्वारा प्रणीत तीन प्रकार की दार्शनिक चिंतन धाराएं प्रचलित हो चुकी थीं। क्षेत्रीयता की दृष्टि से देखा जाय तो वैदिक आर्यों और अवैदिक आर्यों के राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्र किसी एक ही जनपद

विशेष तक सीमित न थे, किन्तु अनार्य लोग वैदिक आर्यों और अवैदिक आर्यों के जनपद क्षेत्रों में घुलमिल चुके थे। जहां जनपद विशेषों में खून के रिश्तों की अहमियत थी वहां की राजनीति में तो अनार्यों का प्रवेश वर्जित था, किन्तु उस क्षेत्र के राजन और पुरोहित की अधीनता स्वीकार कर लेने पर बावजूद अनार्य होने के वे जनपदीय प्रशासन के उच्च पद पर पहुंच सकते थे और यदा-कदा राजपद पाने में भी सफल हो सकते थे। फिर भी दर्शन की इस प्रभात वेला में आर्य और अनार्य जीवनधाराओं के बीच एक स्पष्ट पृथकता देखी जा सकती थी। जैन-बौद्ध दर्शनों तक वेद तीन ही थे। अथर्ववेद का नाम बाद की रचना के रूप में शामिल किया जाता है, जिसमें निम्न स्तर पर आर्य-अनार्य धर्मों, मंत्र-तंत्रों और टोने-टोटकों को समेकित करने की पहली बार कोशिश की गई। चेतना के स्तर पर नस्लभेद या रंगभेद अथवा आर्य-अनार्य भेद तथा जाति भेद एवं ऊंचनीच भेदभाव को जैन और बौद्ध प्रणालियों ने भी दृढ़ता के साथ नकारा।

बौद्ध के प्रतीत्य समुत्पाद और जैन के अनेकांतवाद या स्यादवाद दर्शनपद्धतियों को एकीकृत इकाई के रूप में लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के वैदिक-उपनिषदीय ईश्वरवाद का निषेध करने वाला अनीश्वरवादी पहला पक्का कदम लोकायत या चार्वाक् दर्शन था तो दूसरा अनीश्वरवादी चरण बौद्ध-जैन समन्वित दार्शनिक घटक। लोकायत के रूप में अनीश्वरवाद ने ईश्वरवाद या अज्ञेयवाद को इतना जबरदस्त धक्का दिया कि वह पूरी तरह बौखला गया और परिणामस्वरूप ईश्वरवादियों ने षड्यंत्र करके उसके मूलग्रंथ को तो जलाकर नष्ट कर दिया, लेकिन फिर भी उसके प्रभामंडल की उपेक्षा न की जा सकी और अपनी कटु व कपट व्याख्याओं मे उसके उद्धरण देने को विवश होना पड़ा। फिर जब बुद्ध के अनीश्वरवाद का जवाब नहीं बन सका तो उसे भगवान के अवतार के रूप में प्रचारित कर अपने दायरे में लेने की कुचेष्टा की, तो जैनियों के तीर्थकर ऋषभनाथ या आदिनाथ को भागवत पुराण में विष्णु का प्रथम अवतार घोषित कर ईश्वरत्व के घेरे में ले लिया। फिर भी इन प्रचारात्मक विकृतियों से बौद्ध-जैन के अनीश्वरवादी योगदान को नहीं झुठलाया जा सका।

जहां ईश्वरवादियों का तामझाम इतना प्रबल हो, वहां अनीश्वरवादियों के लिए टिक सकना कोई आसान खेल नहीं था, यदि उनके पास ईश्वर के अस्तित्व या उसके सृजनकर्ता होने के विरुद्ध तीखे व्यंगबाण और अकाट्य तर्क समुच्चय न होते। लोकायत, बौद्ध और जैन ने अनेक अंध आस्थाओं और मिथ्याचारों को तार-तार कर दिया। इसके अलावा इन्होने 'वेदप्रमाण' को चुनौती देकर स्वतंत्र चिंतन की दिशा को प्रशस्त करने का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान भी किया।

• •

षट्कोणीय षड्दर्शन-1
सांख्य-योग

भारतीय दर्शन का अत्यंत महत्वपूर्ण विकास हुआ षड्दर्शन के रूप में। षड्दर्शन में दर्शन की छः प्रणालियां हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा (पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा) और वेदान्त। इन छः प्रणालियों को सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक और मीमांसा-वेदांत के युग्मों में भी देखा जाता रहा है। इस तरह षट्कोणीयता का त्रिकोण बनता है। वैसे प्रत्येक प्रणाली की कालावधि का निर्धारण अभी तक अनिश्चितता से घिरा हुआ है। कुछ विद्वान इनमें से कुछ को ई.पू. आठवीं से ई.पू. चौथी में प्रणीत मानते हैं, तो कुछ इससे काफी बाद की कालावधि में रचित या संकलित। कालक्रम की चर्चा प्रत्येक प्रणाली के परिचय के साथ ही किया जाना उपयोगी होगा। प्रत्येक प्रणाली के प्रणेता, भाष्यकार और संकलनकर्ता भी अनेक विविधताओं के दायरे में हैं। अलबत्ता प्रत्येक की आधारभूमि और मूल अन्तर्वस्तु के विश्लेषण में अधिकतर विद्वान सहमत दिखाई दे रहे हैं। षड्दर्शन की छहओं पद्धतियों का सामान्य लक्षण यह है कि वे वेद, कर्मसिद्धांत और मोक्ष के कट्टर विरोधी नहीं हैं।

सांख्य—लगभग ई.पू. पांचवीं सदी में सांख्य दर्शन का प्रवर्तन हुआ, जिसके प्रणेता कपिल थे और जिसे विकसित किया था उनके शिष्य आसुरि तथा पंचशिख की रचनाओं ने। इन कृतियों का मूलपाठ नहीं बचाया जा सका। ईश्वर कृष्णकृत सांख्यकारिका (तीसरी-चौथी इस्वी), नवीं सदी में वाचस्पति मिश्र की सांख्य-तत्त्व कौमुदी व अन्य सांख्य संबंधी व्याख्याओं में, जो सामग्री उपलब्ध हो सकी, उन्हीं के आधार पर उसका पुनर्गठन संभव हुआ है।

'सांख्य' शब्द 'संख्या' से बना है। सांख्यदर्शन में तत्त्वों की गणना या संगणना प्राथमिकता से ली गई प्रतीत होती है। इसमें गहन मनन, तर्क, पक्षापक्ष की गणना भी सम्मिलित है। इसमें वैचारिक संघर्ष का तेवर भी है, जिसे दार्शनिक भाषा में द्वन्द्वात्मकता कहा जा सकता है।

सांख्यकारिका के अनुसार जीवन का लक्ष्य है पूर्णज्ञान प्राप्त करना, जिसके द्वारा मानव की अनुभूति में आने वाले तीन प्रकार के दुखों से छुटकारा मिल सके। तीन प्रकार के दुख हैं—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। आधिदैविक दुख वह होता है जो प्रकृति में असाधारणता के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, जैसे जलप्लावन या प्रलय अथवा अतिवृष्टि, सूखा, भूकंप, उल्कापात आदि। इसे आधिदैविक इसलिए कहा जाता है क्योंकि सांख्य में पंचमहाभूतों को मानवेतर दैविक क्षमतावान स्वीकार किया जाता है और इन पांचों से किसी में विक्षोभ या प्रकोप हो तो वह दुख का कारण बन जाता है, विनाश का कारण भी। दूसरा आधिभौतिक प्रकार का दुख होता है, जो स्वयं से अतिरिक्त दूसरे मनुष्यों, पशुओं, कीड़ों-मकोड़ों और पक्षियों आदि द्वारा उत्पन्न किया जाता है। तीसरा आध्यात्मिक प्रकार का दुख होता है, जो स्वयं के शारीरिक विकार या मानसिक रोग, क्रोध, घृणा, रागद्वेष आदि की स्थितियों से उत्पन्न होता है।

सांख्य इन उपर्युक्त तीनों प्रकार के दुखों से हमेशा के लिए छुटकारा पाना संभव मानता है। इसी को मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण कुछ भी कहा जा सकता है। पुरोहितवाद ने दुख निवारण या मुक्ति को यज्ञ, बलि आदि कर्मकांड से जोड़ दिया था, जिसका बौद्ध और जैन ने खंडन किया, किन्तु आगे चलकर जब बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में ढल गए, तो दर्शन से दूर हटकर दोनों ने अपने-अपने अलग कर्मकांड पैदा कर दिए या धार्मिक रूढ़ियों या रीति-रिवाजवाद के सांचों में फिट हो गए। इधर सांख्य अपनी विशेषताओं और कमियों के होते हुए भी दर्शन के रूप में ही कायम रहा। उसने अपना कोई रूढ़िवाद या धर्म-कर्मकांडवाद कायम नहीं किया या अपनाया। इसलिए सांख्य ने दुख का कारण अविवेक, कर्मकांडवाद में अंधविश्वास और प्रकृति एवं चेतना के अंत:संबंध को न पहचान पाने को बताया और दुख से छूटने का उपाय गतिशील ब्रह्मांड के विकास की प्रक्रिया का समुचित ज्ञान प्राप्त करना ही माना है। कारण जाने बिना, निदान किए बिना उसके परिणाम का, कार्य का या रोग का निवारण या उससे छुटकारा नहीं किया जा सकता।

सांख्य का सर्वविदित सूत्र है— 'मूले मूला भावाद मूलं मूलं' अर्थात् मूल या प्रकृति में मूल के अभाव (रचना रहित) होने से मूल (प्रकृति) अमूल या आधा है। *दूसरे शब्दों में अस्तित्व से ही अस्तित्व पैदा होता है।* *अनस्तित्व से अस्तित्व की उत्पत्ति* नहीं हो सकती। सांख्य विचारकों द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों के अनुसार तिलों को पेरने से पहले उनमें तेल मौजूद रहता है; धानों को कूटने से पहले उनमें चावल मौजूद रहते हैं, दुहने से पहले थनों में दूध मौजूद रहता है। अत: दुखरूपी परिणाम में उस दुख का कारण पहले से मौजूद रहता है, अत: दुख निवारण तभी संभव होगा जब उसका निदान हो जायगा अर्थात् दुख और निवारण का ठीक ज्ञान होगा। सांख्य प्रणाली को

सत्कार्यवाद इसीलिए कहा जाता है कि इसमें कारण और कार्य की समेकिकता की अनिर्वायता को स्वीकार किया गया है। प्रकृति समस्त विकास का आदि कारण है, किन्तु प्रकृति स्वयं अपने (स्वयं के) विकास का भी आदि कारण है। सारा विकास प्रकृति का रूपांतरण है—चेतना, बुद्धि और इंद्रियों का विकास भी।

सांख्य के अनुसार सृष्टि का प्राथमिक तत्व प्रकृति (पदार्थ) है, जो सर्वत्र विद्यमान, नित्य तथा स्वतंत्र या स्वायत्त है। इसमें गति की निरंतरता है। प्रकृति या पदार्थ का न आदि है न उसका कोई अन्त मूल रूप से उसका कोई बाह्य कारण नहीं है। कपिल के अनुसार जगत का निर्माण नहीं हुआ है और इसीलिए इसका कोई निर्माता नहीं है। स्वयं जगत ही जगत का कारण है, क्योंकि वह क्रमिक रूप से विकसित हुआ है। प्रकृति में निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर स्वयमेव विकसित होने की निरंतरता ही जगत के अस्तित्व का कारण और परिणाम है। किसी भी वस्तुगत संबंध का होना अनिवार्य है। बिना कारण के परिणाम और बिना परिणाम के कारण नहीं होता। कार्य-कारण का परस्पर अटूट संबंध होता है। कार्य-कारण संबंध को सत्कार्यवाद कहा जाता है। यदि ईश्वर (ब्रह्म) प्रथम कारण है व जगत उसका परिणाम या सृजनकार्य है तो दोनों में अभौतिकता और भौतिकता के रूप में विसंगति हो जायेगी, जबकि कारण और परिणाम में विसंगति नहीं हो सकती। अत: ब्रह्मांड या जगत पदार्थ के रूपांतरण का ही परिणाम है। 'तर्के ईश्वर: असिद्ध' अर्थात् तार्किक पद्धति में विचार करने पर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सांख्य (संख्यात्मक अभिव्यक्ति) में पच्चीस तत्वों को प्राथमिकता प्रदान की गई है —

(1) प्रकृति अथवा प्रधान (पदार्थ), (2) बुद्धि अथाव महत् (ज्ञान), (3) अहंकार (आत्म-चेतना), (4-8) पांच महाभूत-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, (9-13) पांच तन्मात्राएं (सूक्ष्म तत्व)— स्पर्श, रस, रंग, गंध और नाद या स्वर, (14-18) पांच ज्ञानेन्द्रियां— त्वचा, जीभ, आंख, नाक और कान, (19-23) पांच कर्मेंद्रियां—मुख, हाथ, पैर, गुदा और जननेन्द्रिय, (24) मनस् (केन्द्रीय इंद्रिय अथवा मस्तिष्क), और (25) पुरुष (आत्मा)।

तीन गुण हैं—सत्व, रजस, तमस्। ये गुण पदार्थ में निहित हैं और ये तीनों परस्पर निर्भर होते हैं। इन गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम ही विकास की प्रक्रिया में प्रस्फुटित होता है। सत्व चेतना तत्व है। इसकी प्रधानता शान्ति और आनन्द देती है। रजस् से ऊर्जा या हलचल अथवा गति और विराम दोनों पैदा होते हैं। तमस् से भार या ठोस और स्थिरता दोनों की उत्पत्ति होती है। सत्व, रज और तम तीनों प्रकृति के अभिन्न गुण हैं, जो जड़चेतनमय सृष्टि में अन्तर्निहित रहते हैं।

विकास की प्रक्रिया में प्रकृति संख्यात्मक रूप में बढ़ती-घटती नहीं। द्रव्य

को निर्मित अथवा नष्ट नहीं किया जा सकता। द्रव्य सदैव वही रहता है। द्रव्य के घटक निरंतर गति में रहते हैं जो किसी भी क्षण रुकते नहीं, कोई विकास या विलय और कुछ नहीं, सिर्फ द्रव्य का पुनर्वितरण है—भूत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य अथवा क्षमता से वास्तविकता में निष्क्रमण। एस एन. दास गुप्ता ने 'ए हिस्टरी ऑफ इंडियन फिलॉसोफी' में उपर्युक्त तीन गुणों में सत्व को 'प्रज्ञाद्रव्य', रजस् को 'ऊर्जाद्रव्य' और तमस को 'संहतिद्रव्य' के रूप में परिभाषित किया है। यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वैज्ञानिक सत्य की अनुभूति के रूप में पूर्वानुमान प्राचीनकाल के कई महान् विचारकों की विशेषता रही है। ऐसे कई पूर्वानुमान आज के प्रयोगों द्वारा वैज्ञानिक सत्य प्रमाणित किए जा चुके हैं।

सांख्य के उपर्युक्त पंचमहाभूत या भौतिक घटक अथवा 'सार' (तत्व) ग्रीक-रोमन दर्शन में वर्णित पांच तत्वों के समान हैं, केवल उनके क्रम में अंतर है। विश्वदर्शन को यह एक विश्वसनीय सच्चाई है कि सांख्य ही वह प्रथम दार्शनिक पद्धति है जिसमें द्रव्य के दार्शनिक विश्लेषण को सूत्रबद्ध करने का गंभीर प्रयास किया गया है।

सांख्य में प्रकृति से अलग पुरुष को एक सूक्ष्म तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। इस तरह प्रकृति और पुरुष दोनों की वास्तविकता को मान्यता दे दी गई है। सांख्यकों की दृष्टि में द्रव्य स्वयं को सामान्य और वैयक्तिक—दो रूपों में अर्थात् प्रकृति और पुरुष के रूप में अभिव्यक्त करता है। राममोहन राय के अनुसार चेतना की उत्पत्ति को समझाने के लिए ही कपिल को पुरुष का सृजन करना पड़ा। कपिल के अनुसार पुरुष एक अत्यंत सूक्ष्म तत्व है, सर्वज्ञ है और वह प्रकृति से अलग चेतनामय है। प्रकृति पदार्थ है, पुरुष चेतना। प्रकृति गतिशील, सक्रिय और सृष्टि सर्जक है, जबकि पुरुष (चेतन) निष्क्रिय और असर्जक है। प्रकृति क्रिया का विषय है, स्वत-स्फूर्त विकास प्रक्रिया में वह पुरुष के संपर्क में आती है और अंततः आत्मसंज्ञान करती है, पुरुष आत्मसंज्ञान की क्षमता से रिक्त है। प्रकृति के साथ पुरुष की उलझन भरी विसंगति को मान्यता देने का एक कारण यह हो सकता है कि कपिल नितांत लोकायतिक न मान लिए जायें और दूसरे उनकी भौतिक प्रस्थापना की आध्यात्मिक व्याख्या न की जाय, इस आशंका से उन्होंने आत्मन या प्रकृति से भिन्न पुरुष को सृजनक्षमता वंचित सूक्ष्मतत्व के रूप में प्रदर्शित किया।

योग—लगभग दूसरी शताब्दी ई.पू. में पतंजलि द्वारा योग के चिंतन और व्यवहार को व्यवस्थित रूप दिया गया। योग अर्थात् इंद्रियों के संयमन और मोक्ष की विधि का जोड़। इसमें दार्शनिक विचारों और शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य हेतु उपयोगी अभ्यासों या आचरणों की अथवा व्यावहारिकता की संयुक्तता की जाती है। योग को, परम आत्मन के साथ व्यक्तिगत आत्मा के मेल के रूप में भी देखा जाता है। कुछ उसे प्रकृति और पुरुष के पुनर्मिलन के रूप में भी स्वीकार करते हैं।

पतंजलि का योगसूत्र योग की पहली प्रमुख रचना है, इसे पतंजलि सूत्र भी कहते हैं। यह चार पादों में विभाजित है—समाधिपाद, साधनापाद, विभूतपाद और कैवल्यपाद। समाधिपाद समाधि या ध्यानमग्न आत्मतल्लीनता की प्रकृति व ध्येय का वर्णन करता है, साधनापाद ध्येय की प्राप्ति के लिए साधनों को बतलाता है, विभूतपाद योग के आंतरिक स्वरूपों तथा योग द्वारा असाधारण क्षमताओं की प्राप्ति के महत्त्व को दर्शाता है और कैवल्यपाद मोक्ष की प्रकृति और उसके स्वरूपों का ज्ञान करवाता है।

भारतीय परंपरा में सांख्य और योग को एक-दूसरे का अनुपूरक माना जाता है। सांख्य के पच्चीस तत्वों की अवधारणा और प्रकृति और पुरुष के उसके द्वैतवाद को योग ने भी स्वीकार किया। किन्तु योग ने अपना प्रमुख केन्द्र मोक्ष हेतु व्यावहारिक विधियों को ही निर्धारित किया।

पतंजलि के अनुसार मनुष्य खनिज, वनस्पति, पशु और वास्तविक मानव जैसे चार आधारभूत घटकों से निर्मित एक प्रणाली है, जिसे 'सूक्ष्म ब्रह्मांड' अथवा 'लघु रूप में ब्रह्मांड' के रूप में माना जा सकता है। पतंजलि ही पहले विचारक थे, जिन्होंने मनुष्य को एक प्रणाली और उसके प्रत्येक घटक को एक अस्तित्वमय स्वतंत्र सत्ता माना। इसके मुताबिक चार स्तर इस प्रकार हुए—

1. खनिज व्यक्ति
2. वनस्पति व्यक्ति
3. पशु व्यक्ति
4. मानव व्यक्ति

खनिज व्यक्ति—खनिज क्षेत्र को निर्जीव जगत के अर्थ में लिया जाता है, जो अचेतन पिंडों सहित संपूर्ण ब्रह्मांड है। खनिज व्यक्ति खनिज क्षेत्र के पदार्थवाली एक उपप्रणाली है। पृथ्वी पर और आकाश में सारे खनिज पिंड अर्थात् रेत के कण से लेकर ब्रह्मांड के दृश्य व अदृश्य पिंड परस्पर संबंधित हैं। स्वभावतः वह एक से उत्पन्न होते हैं और एक में वापिस लौट आते हैं, जैसे सांस का लेना और निकालना। खनिज क्षेत्र गतिशील है, खनिज व्यक्ति भी। वह लयमय है। ऋतु परिवर्तन और रात-दिन का आना-जाना गति और लय का परिचायक है, इसे अनुभव किया जाना चाहिए और तदनुसार आचरण को, चाहे वह लौकिक अथवा पारलौकिक हो, अनुपालित करना चाहिए। आहार और व्यवहार को तदनुकूल संयमित रखना चाहिए। यह इसलिए आवश्यक है कि खनिज व्यक्ति खनिज क्षेत्र की गतिशीलता का उच्चतम विकास है। ब्रह्मांड प्रणाली का अंग पृथ्वी प्रणाली, दोनों प्रणालियों का अंग मानव प्रणाली की उपप्रणालियों में खनिज व्यक्ति, वनस्पति व्यक्ति, पशु व्यक्ति और मानव व्यक्ति की उपप्रणालियां सम्मिलित की गई हैं।

पतंजलि के अनुसार खनिज व्यक्ति की गतिविधि के लक्षण हैं—वह जीवित है, फिर भी निष्क्रिय है, किन्तु वही करता है जो उसकी आदत के रूप में सिखा दिया गया है या जिस गति में उसे ढाल दिया गया है। उसकी सक्रियता प्राकृतिक वातावरण पर निर्भर करती है।

वनस्पति व्यक्ति—खनिज क्षेत्र के आधार पर पदार्थ का एक उच्च संगठन, वनस्पति क्षेत्र उत्पन्न होता है। वनस्पति जगत खनिज आधारित होकर अपनी जड़ों से खनिजों से बनी भूमि में पहुंचता है। उससे अपना पोषाहार लेते हुए उसे दृढ़तापूर्वक जकड़ लेता है, जो सूर्य, चन्द्र और तारों तक से जुड़ा हुआ है। किन्तु वह खनिज जीवन से भिन्न है। वह फल देता है, फिर बीज से स्वयं को पुनरोत्पादित और संवर्द्धित करता है। एक पौधा जीवित पदार्थ का प्राथमिक रूप है। इसके अलावा खनिज प्रणाली की अपेक्षा वह अधिक गतिशील है।

पशु व्यक्ति—खनिज व वनस्पति की अपेक्षा पशु उच्चतर स्तर की उपप्रणाली है। उसकी उत्पत्ति खनिज और वनस्पति पर आधारित है। पशु की संचलन क्षमता अर्थात् चलना, फिरना, घिसटना, रेंगना, दौड़ना, कूदना, उड़ना आदि उसकी अपनी विशेषता है और इसीलिए वह खनिज और वनस्पति से अधिक विकसित और उच्चतर होता है, किन्तु वह खनिज और वनस्पति के बिना नहीं जीवित रह सकता। उच्चतर स्थिति में पशु व्यक्ति प्रशिक्षित, स्मृतिमय और संवेदनशील हो सकता है। पशु व्यक्ति में खनिज व्यक्ति और वनस्पति व्यक्ति की मूलभूत विशेषताएं अंतर्निहित होती हैं। पतंजलि ने पशु की ढूंढ़ने, पाने, इच्छा-अनिच्छा के होने, रुकावट को पार करने और प्रेम-घृणा करने की इसकी विशेषता को उसकी चतुरता कहा है—"सभी पशु चतुर होते हैं।"

मानव व्यक्ति—उपर्युक्त खनिज व्यक्ति, वनस्पति व्यक्ति और पशु व्यक्ति का योग होने पर उसकी एक संश्लिष्ट और समन्वित अभिव्यक्ति होती है मानव व्यक्ति, लेकिन एक उच्चतम विकास के रूप में। वह वैयक्तिक इकाई के रूप में पुरुष (जीव) है, जो विश्वात्मा (आत्मन्) का अंग है। आत्मा के रूप में पुरुष मानव व्यक्ति को संज्ञान, तर्क और चिंतन की क्षमता देता है एवं तदनुकूल प्राप्त निष्कर्षों को व्यावहारिक रूप देने योग्य बनाता है। मानव व्यक्ति आनुवंशिक संचित अनुभवों का सामान्यीकरण करता है और क्रमशः स्वयं को स्वतःस्फूर्त प्राकृतिक नियमों से अलग करते हुए सारे वातावरण को आत्मसात् करता है। अब वह परिवर्तनकारी क्षमता प्राप्त कर लेता है। खेती, पशुपालन, शिल्प, कला, विज्ञान आदि का कर्ता बन जाता है। प्रकृति की गति और उसके नियमों का ज्ञाता बनकर वह स्वयं एक साथ विधायक और सर्जक दोनों बन जाता है।

परिवर्तन सक्षम मनुष्य के निर्माण को एक ऐसी प्रणाली के रूप में अंकित करना, जिसमें क्रमशः खनिज, वनस्पति, पशु तथा मानव व्यक्ति की उप-प्रणालियों का समस्त योग है—पतंजलि की अत्यंत उल्लेखनीय उपलब्धि है। प्रसिद्ध विचारक वी. ब्रोदोव ने अपनी रचना 'आधुनिक काल में भारतीय दर्शन' (91) में योग पर टिप्पणी करते हुए कहा है—"--- प्रणालियों का दृष्टिकोण पतंजलि की विशेपता थी। उनके लिए व्यक्ति स्वगतिशील, स्वसंगठित तथा स्व-निर्देशित प्रणाली है। हमारा विश्वास है, इस दृष्टिकोण का गहन तार्कित अर्थ है, जो मनुष्य आधुनिक विज्ञान द्वारा भुलाया नहीं जा सकता है।"

विशेष—पतंजलि के योग में वर्णित 'चार व्यक्ति' अवधारणा का अध्ययन करते समय फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा रचित 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता' (Dialectics of Nature) का अध्ययन करना बहुत उपयोगी होगा।

पंतजलि द्वारा प्रणीत योग अष्टांगी है जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का योगफल सन्निहित है। इस अष्टांग को तेजोबिन्दु नामक वेदान्तिक उपनिषद् ने पंचदशांग तक आगे बढ़ा दिया। इसमें उपर्युक्त अष्टांग के साथ त्याग, मौन, एकांत, शरीर को सीधा रखना, दृक्स्थिति आत्मोपासना और ब्रह्मानुभूति को जोड़ दिया। 'भारतीय दर्शन के इतिहास' (भाग-2-452) में प्रस्तुत एस.एन. दासगुप्ता की योग की यह (पंचदशांगी) व्याख्या पतंजलि-योग एवं गीता के योग से सर्वथा भिन्न है। त्रिशिक ब्राह्मणा ग्रंथ में वर्णित अष्टांग योग और पातंजलयोग के आठ अंगों के नामों में समानता होते हुए भी अर्थ में भिन्नता है फिर भी पतंजलि द्वारा वर्णित यम, नियम के प्रायः सभी गुण इसमें विद्यमान हैं।

अष्टांग योग में यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करना होता है, जिसका उद्देश्य इंद्रियों और मन को विपय-वासनाओं से परे रखना; नियम के अन्तर्गत तप, बाहर-भीतर की शुद्धता, स्वाध्याय, संतोष और भक्ति आते हैं; आसन के अन्तर्गत योगासन अर्थात् बैठक विधियों को शामिल किया जाता है; प्राणायाम से तात्पर्य श्वास, व्यायाम; प्रत्याहार का अर्थ इन्द्रियनिग्रह; धारणा में चिन्तन; ध्यान में मन की एकाग्रता और समाधि में मोक्ष एवं असाधारण क्षमता की प्राप्ति को सम्मिलित किया जाता हैं।

गीता में योग को 'कर्मसुकौशलम' अर्थात् कार्यों की सुघड़ता कहा गया है।

सांख्य और योग में अन्तरः- सांख्य और योग के तात्विक चिंतन में एकरूपता होते हुए भी थोड़ा-बहुत अंतर तो है ही, जिसे नगण्य नहीं कहा जा सकता। यह अंतर मात्रात्मक भी है।

सांख्य		योग	
प्रकृति-प्रधान (त्रिगुणात्मक)	1	प्रकृति-प्रधान	1
पंचमहाभूत	5	महाभूत	5
तन्मात्रा	5	तन्मात्रा	5
ज्ञानेन्द्रियां	5	ज्ञानेन्द्रियां	5
कर्मेन्द्रियां	5	कर्मेन्द्रियां	5
महत तत्त्व (बुद्धि)	1	महत तत्त्व (बुद्धि)	1
अहंकार	1	अहंकार	1
मन	1	मन	1
पुरुष	1	पुरुष	1
		पुरुष विशेष (ईश्वर)	1
योग	25		26

सांख्य अनीश्वरवादी है, जबकि योग ईश्वरवादी। सांख्य और योग के तत्त्वचिंतन की शब्दावली में मामूली अंतर है, किन्तु अर्थ एक ही है। योग का अष्टांग योग उसकी अपनी विशेषता है। यह शारीरिक साधना और इंन्द्रियदमन के साथ मानसिक एकाग्रता का अभ्यासशास्त्र कहा जा सकता है, जो दार्शनिक चिंतन से दूर हटकर व्यवहार क्षेत्र को परिभाषित करने में व्यस्त होता है, जबकि सांख्य में यह बात नहीं है। योग बौद्ध के चार आर्यसत्यों से प्रभावित है, शब्दांतर के साथ, यथा दुख को हान और दुख हेतु को हेयहेतु आदि। योग सांख्य के दार्शनिक चिंतन को व्यवहार में ढालने का प्रयास-सा लगता है। पतंजलि ने योग को चित्तवृत्ति निरोध का अभ्यास माना।

योग द्वारा ईश्वर को पुरुष विशेष के रूप में मान लिए जाने को डॉ. राधाकृष्णन ने इस प्रकार अंकित किया— "योग दर्शन का व्यक्तिगत ईश्वर का उस प्रणाली के शेष भाग से बहुत ही कम संबंध है। मनुष्य की आकांक्षाओं का लक्ष्य ईश्वर से एकात्म स्थापित करना नहीं, वरन् पुरुष को प्रकृति से पूर्णतः अलग करना है। ईश्वर की भक्ति प्राप्त करने के अनेक उपायों में केवल एक उपाय । ईश्वर केवल एक पुरुष विशेष है, न कि ब्रह्मांड का सृष्टा और संरक्षक।"

('इंडियन फिलौसफी' खंड-2)

कुछ विचारकों ने तो योग को 'ईश्वरवादी सांख्य' तक की संज्ञा दे दी, किन्तु इसे संपूर्ण यथार्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसे तत्वमीमांसा तक प्रभावित हुआ मान सकते हैं। कुछ विद्वान एक की बजाय दो पतंजलियों की बात करते हैं, किन्तु सुसंगठित तर्क के अभाव में इस पर चर्चा करना अनुपयोगी होगा। कइयों की धारणा बनी कि योग का दृष्टिकोण दमनात्मक अभ्यासों का संकलन मात्र है, जो

उसके बारे में केवल एक निषेधात्मक टिप्पणी के अलावा कुछ नहीं।

वास्तव में योग, दर्शन की एक महान् उपलब्धि है।

लोकायत, जैन, बौद्ध, सांख्य और योग दर्शन प्रणालियों को भारत के जनपदीय समाजों की राजनीतिक, आर्थिक और वैचारिक परिस्थितियों की उपज कह सकते हैं। प्रारंभिक ऋग्वैदिक कबीलाई व्यवस्था के अवसान ने इन जनपदीय व्यवस्थाओं के आगमन के लिए दरवाजे खोल दिए थे। देश के अनेक भागों में जनपदीय राज्य पैदा हो गए। इनमें सोलह महाजन पदों का तत्कालीन बड़े राज्यों के रूप में उल्लेख किया गया है। ये हैं—गंधार, कंबोज, अस्सक, वत्स, अवंती, शूरसेन, चेदि, मल्ल, कुरु, पांचाल, मत्स्य, वज्जि (वृज्जि), अंग, काशी, कौशल और मगध। इनमें काशी, कौशल, मगध और विज्जि ऐसे बड़े राज्य थे जो काफी लंबे अर्से तक लड़ते-भिड़ते रहे और अंततः मगध देश की राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। दूसरी ओर सिकंदर के आक्रमण से अनेक कबीले बरबाद हो गए और विस्तृत राज्यसत्ता केन्द्रों की स्थापना होने लगी।

राज्य-केन्द्रों के विस्तार में आपसी लड़ाइयों के कारण कबीलों का टूटना, विदेशी आक्रमण का होना और कबीलाई व्यवस्था का छिन्न-भिन्न होना तो था ही, साथ ही कृषि के नये साधनों की खोज से उसका क्षेत्रीय आधार के अनुसार विकसित होना भी था। तांबे और लोहे के भंडारों और खनिजों पर विजेताओं का नियंत्रण होना, जिससे हथियारों और उपकरणों के प्रकारों में गुणात्मक परिवर्तन का होना और फलस्वरूप चहुंमुखी उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि का हो जाना वह सबसे प्रमुख कारण था जिसने वर्ग विभाजन को और सुदृढ़ कर दिया।

कबीलाई व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने का एक नतीजा यह हुआ कि तत्कालीन कर्मकांडवाद या पुरोहितवाद के विरुद्ध विभिन्न क्षेत्रों में अनेक विचारधाराएं उभरने लगीं। कर्मकांडवाद एक पौरोहित्य पाखंड दिखाई देने लगा था। वह रूढ़ि बनकर अपनी आवश्यकता गौण कर चुका था। पशु की बलि इसलिए निरर्थक थी कि पशुओं को अनेक प्रकार से उपयोगी बनाया जा रहा था। पशुहिंसा निन्दनीय हो चुकी थी। अहिंसा पशु हिंसा के विरुद्ध तो थी ही, वह राज्य विस्तार में भी बाधक थी, दस्युओं के द्वारा किए गए कारनामों के खिलाफ थी। नगरीय व्यवस्था ने कबीलाई अनुशासनबद्धता में रहने वाली व्यक्तिगत कुंठाओं को तोड़ दिया था। उत्पादन की प्रचुरता, विदेशियों के आवागमन से व्यापारिक लेनदेन और ऐसे कई भौतिक, सामाजिक और आर्थिक कारण पैदा हुए कि जिनसे अनेक-अनेक स्वतंत्र विचारकों और उनके समर्थकों व अनुयायियों ने वैदिक रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठाई, जिसके परिणामस्वरूप लोकायत या चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य और योग जैसी चिंतनधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ।

ऋग्वेद के अंतिम काल में रंग, गुण और कर्म के अनुसार आर्यो ने वर्णव्यवस्था दी थी, जिसे उपनिषद्-स्मृतिकारों ने तत्कालीन राजतंत्रीय आवश्यकतानुकूल वंशानुगत बना दिया। इससे क्षत्रिय का वंशज क्षत्रिय या कि राज्याधिकारी हो गया था, जो कभी चुने जाने पर राज्याधिकारी होता था। अब राजा के घर में पैदा होने मात्र से वह राजा बनने का हकदार हो गया था, चाहे वह कायर और मूर्ख ही क्यों न हो। इसी तरह ब्राह्मण के वंश में पैदा होने वाला ब्राह्मण ही होगा, चाहे वह ब्रह्मा या ब्रह्मांड के ज्ञान से रहित और अनपढ़ बुद्धू ही क्यों न हो। इसी तरह यदि वैश्य या शूद्र गुण और कर्म से वीर और विद्वान हो जाता, तो भी वह क्षत्रिय और ब्राह्मण के अधिकारों को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हो सकता। इस प्रकार वंशानुगत वर्णव्यवस्था से समाज में एक विषम अन्तर्विरोध पैदा हो गया। इस द्वन्द्व के फलस्वरूप बौद्ध, जैन, लोकायत या चार्वाक, सांख्य व योग को वंशानुरूप कार्यकलापों के या कर्मकांडानुयायी यज्ञबलिपूर्ण क्रियाओं के विरुद्ध खड़ा होने को प्रेरित कर दिया।

जब आदिम सामुदायिक अथवा साम्यवादी व्यवस्था विघटन और टूटन के किनारे तक आ पहुंची और आर्यसभ्यता एक ऐसे उच्चतर स्तर पर विकसित होने लगी कि उसमें वर्गभेद और वर्णभेद सदृढ़ होने लगे, तब राज्यसंस्था स्थापित होने लगी यह वह समय था जब एक विकासोन्मुख अर्थतंत्र यथार्थ की भूमि पर खड़ा होने लगा। था, ऐसी परिस्थिति में कपिल और पतंजलि ने तर्क और युक्तियों के आधार पर सांख्य और योग दर्शन पद्धतियों की संरचना की। उन्होंने जगत की उत्पत्ति में पदार्थ की प्राथमिकता स्वीकार की, प्रकृति की गतिशीलता की प्रक्रिया में जीवन और शक्ति, विचार और चेतना की उद्‌भावना को लक्षित किया।

ब्राह्मण साहित्य में सांख्य का प्रभाव देखा जा सकता है। महाभारत के शांतिपर्व में प्रह्लाद के द्वारा सांख्य प्रतिपादित रूपांतरण-सिद्धांत को इस तरह समझाया गया है— "वह मनुष्य जो केवल प्रकृति के रूप परिवर्तन से परिचित है, किन्तु प्रकृति को नहीं जानता जो परम है तथा स्वयमेव अस्तित्वमय है, वह अपने अज्ञान पर पछताता है, किन्तु वह मनुष्य जो प्रकृति तथा उसके रूप परिवर्तनों के बीच भेद को समझता है, व आश्चर्यचकित नहीं होता। सभी वस्तुओं का उद्‌भव प्रकृति है। इस तथ्य पर जिसकी निश्चित आस्था है, वह कभी गर्व अथवा अहंकार का शिकार नहीं बनेगा। यदि मैं नश्वरता के सभी नियमों के मूल को जानता हूं और यदि मैं सभी वस्तुओं की अस्थिरता से परिचित हूं, तो मैं दुख से पीड़ित नहीं हो सकता। इन सब यातनाओं को सहना उद्देश्यपरक होता है।"

गीता में कृष्ण ने कपिल से तादात्म्य स्थापित कर सांख्य की महानता को स्वीकार किया, तो कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लोकायत, सांख्य और योग प्रणालियों को विशेष स्थान दिया है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार महान् बौद्ध कवि

और दार्शनिक अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित में बौद्धों से पहले कपिल के महत्व को अंकित किया है।

'भारतीय चिंतन परंपरा' (142-143) में के. दामोदरन ने रिचार्ड गार्वे को उद्धृत करते हुए यह सिद्ध किया है कि सांख्य दर्शन की वर्तमान में जो सामग्री उपलब्ध है उसमें वैदिक तत्वों की बातें बाद में जोड़ी गई हैं। यदि इन्हें बाहर निकाल दिया जाए, तो सांख्य की कोई क्षति नहीं होगी, क्योंकि सांख्य दर्शन मूलतः अवैदिक था और ब्राह्मणवादी परंपराओं से स्वतंत्र था। अपनी वास्तविक विषयवस्तु में वह आज तक उनसे स्वतंत्र है। दामोदरन ने जिम्मर की रचना 'फिलॉसोफी ऑफ इण्डिया' के हवाले से इस बात को रेखांकित किया है कि सांख्य और योग दर्शनों का मूल आदिकालीन अवैदिक पुरातन में खोजा जा सकता है। यदि ब्राह्मणवादी विचारक सांख्य की धारणाओं को स्वीकार करने के लिए विवश हुए तो उसका कारण यह था कि यह दार्शनिक प्रणाली जनचेतना में गहराई से बैठ चुकी थी। इसे परंपरावादी बनाने के लिए धूर्तता का सहारा लेना पड़ा, फिर भी मूलरूप से इसे विकृत नहीं किया जा सका।

सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में योग मुद्राओं की मूर्तियों का पाया जाना, श्वेश्वतर उपनिषद् में योग के संबंध में विस्तार से उल्लेख का होना, कठोपनिषद् द्वारा योग को परिभाषित किया जाना कि शरीर और इंद्रियों को नियंत्रण में रखना ही योग है, बुद्ध और महावीर का वर्षो तक योग साधना में लगे रहना और हर युग में योग की क्रियाओं का प्रचलित रहना आदि जहां एक ओर उसकी सर्वकालिक उपस्थिति को प्रमाणित करता है तो दूसरी ओर उसकी लोकप्रियता ओर आवश्यकता को भी दर्शाता है। व्यावहारिक जगत में योग को जितना महत्व प्राप्त हुआ, दर्शन के क्षेत्र में उसे नहीं प्राप्त हो सका। आचरण, तपस्या, साधना, शिक्षण-प्रशिक्षण और स्वास्थ्य एवं रोगोपचार के लिए उसके महत्व को चुनौती देने वाला और कोई भी दर्शन नहीं। गीता ने तो यहां तक कह दिया कि समस्त कार्यों को कुशलतापूर्वक संपन्न करना योगसिद्धि है। इस सदी वाले विचारक तकनीकी कौशल को योग कह सकते हैं।

जहां योग ने सांख्य के द्वैतवाद और पच्चीस तत्वों की अवधारणा को स्वीकार करके उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया, वहां ईश्वर को सभी पूर्णताओं से परिपूर्ण मानते हुए उसे परम सिद्धिदायक के रूप में प्रतिष्ठित भी किया है और इस प्रकार स्वयं को उपनिषदीय प्रणाली के साथ जोड़ दिया है। योग को सांख्य और उपनिषद् दोनों की युगलबंदी के रूप में देखा जा सकता है। स्वतंत्र रूप से यह पद्धति दर्शन और विज्ञान की कतिपय उपलब्धियों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न भी करती है, जैसे शरीर रचना, शारीरिक क्रिया और मनोवैज्ञानिक ध्यान-चिंतन संबंधी धारणाओं आदि में। इससे यह स्पष्ट होता है कि योग भारत की अनेक प्राचीन दार्शनिक

धाराओं में पारस्परिक संबंधों को अभिव्यक्त करने या संबंधों को एक साथ स्थापित करने की समन्वयकारी भूमिका निभाने का काम करते हुए भी अपने योगाचार के रूप में एक स्वायत्त सत्तासंपन्न प्रणाली है।

किसी न किसी रूप में योग सार्वदेशिक अर्थात् वैश्विक है, वह प्रत्येक देश के हरेक व्यक्ति में व्याप्त है, तो प्रत्येक परिवार में भी। वह औपचारिक भी है, तो अनौपचारिक भी। वह पुलिस और फौज में है, तो लेखक और शिक्षक में भी। कदमताल, परेड, जिमनाजियम, कूदफांद, नाट्य-नृत्य, स्वर-साधना, चित्रांकन-मूर्तन, शिल्प, वास्तु, दस्तकारी, गृहकार्य, अध्ययन, ध्यानन, चिंतन-मनन, प्रयोग, प्रसाधन, मंचन आदि प्रत्येक गतिविधि में योग की कोई न कोई विधि, कोई न कोई भंगिमा अथवा कोई न कोई आत्मनियंत्रिका सम्मिलित है। जहां आवेगों पर नियंत्रण की अथवा उनके मार्गांतरण की आवश्यकता होगी, वहां योग की अनिवार्यता होगी। जहां संतुलन की आवश्यकता होगी, वहां योग होगा। जहां समस्थिति या समत्व की अपेक्षा होगी, वहां योग होगा (समत्वमयोगमुच्यते)। जहां क्लेश निवारण ध्येय या श्रेय होगा, वहां योग होगा— 'योगो भवति दु:ख हा'।

सांख्य और योग का युग्म दर्शन का चिंतन भी है, तो विज्ञान की प्रयोगात्मकता भी। इस युग्म को बिखराव के रूप में अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। सांख्य का पुरुष गौण है प्रकृति के सामने, योग का ईश्वर (पुरुष विशेष) गौण है अष्टांग यौगिक विधि-विधान के सामने। तत्व चिंतन में दोनों की अभिन्नता स्वत:सिद्ध है।

षट्कोणीय षड्दर्शन-2
न्याय-वैशेषिक

न्याय

'न्याय' संस्कृत शब्द के हिन्दी में अनेक अर्थ हैं, यथा— 'नियम', 'उत्पादन', 'विधि', 'तार्किक अनुमान', विषय की प्रस्तावना', 'निगमन', 'सामान्य तर्क' आदि। यह तर्क पर आधारित भारतीय दर्शन है, जिसे तर्कशास्त्र के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है। यह ज्ञान संबंधी समस्याओं की ओर विशेष रूप से केन्द्रित है। इसे हेतु विद्या अर्थात् सत्यान्वेषण की तर्कप्रणाली तथा उचित न्याय का विज्ञान और प्रमाणशास्त्र या वैध ज्ञान का विज्ञान भी कहा जाता है।

गौतम न्याय दर्शन के प्रणेता थे। कुछ दर्शन ग्रंथ गौतम को ई. पू. चौथी शताब्दी से भी पहले का मानते हैं, तो कुछ उसके बाद ईसवी सन् के आरंभिक काल का और इसके बहुत बाद का। यह इसलिए भी कि संभव है कि गौतम नाम के कई व्यक्ति रहे हों, किन्तु जो भी हो न्याय के प्रणेता अक्षपाद गौतम थे—इस बात को लगभग सभी ने स्वीकार किया और न्याय षड्दर्शन पद्धतियों में से एक पद्धति है जो ईस्वी सन् से पूर्व की कम से कम तीन सदियों तक प्रचलित रही है, क्योंकि कौटिल्य द्वारा भी इसका उल्लेख किया गया है। गौतम का 'न्याय सूत्र' ज्ञान का व्यवस्थित स्वरूप प्रस्तुत करने वाला न्याय का अवशिष्ट कृतित्व है।

न्यायसूत्र के अनुसार वस्तुजगत यथार्थ है। वह विषयी से स्वतंत्र है। इस विश्व के मूल को जानना-पहचानना ज्ञान की प्राथमिकता है। ज्ञान की प्रामाणिकता आनुभविक प्रमाण के अनुरूप होने पर ही स्वीकार्य हो सकती है। तर्क के नियमों के अनुपालन के आधार पर ही न्याय की अवधारणा कसौटी पर खरी उतरती है।

व्यक्ति को प्रकृति की घटनाओं और वस्तुओं का संज्ञान इंद्रियों के द्वारा होता है, क्योंकि इंद्रियबोध न हो सकने वाली किसी इकाई का वास्तविक अस्तित्व होता ही नहीं। इसीलिए ब्रह्मा नामक देवता का भी अस्तित्व नहीं है जिसे विधाता या कर्त्ता कहा जाता है। न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन (चौथी सदी इस्वी) के अनुसार

विश्वसनीय अथवा प्रामाणिक ज्ञान इंद्रियों तथा वस्तुओं के पारस्परिक सम्पर्क व सन्निकर्ष या संबंध से प्राप्त होता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। सत्य की प्राप्ति हेतु चिंतन अथवा वास्तविकता के समतुल्य संज्ञान के चार तत्व है—चिंतन या संज्ञान का विषय (प्रमाता), संज्ञान की वस्तु (प्रमेय), विश्वसनीय ज्ञान (प्रमिति) और संज्ञान के माध्यम के रूप में न्याय वाक्य (प्रमाण)। न्याय वाक्य को या प्रमाण को संज्ञान का केन्द्रीय साधन माना जाता है। अत: न्याय को प्रमाणशास्त्र अथवा प्रमाण विज्ञान भी कहा जाने लगा। प्रमाण के चार प्रकार बताए गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, तुलना (उपमान) और शब्द प्रमाण (शब्द या आप्तवाक्य)।

राहुल जी के अनुसार न्यायसूत्र में पांच अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में क्रमशः 61, 139, 145, 120 और 68 अर्थात् कुल 533 सूत्र हैं। ('दर्शन-दिग्दर्शन' 478)

न्याय के अनुसार इस ब्रह्मांड का निर्माण केवल परमाणुओं की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का परिणाम है, इसमें किसी ईश्वर अथवा किसी अलौकिक शक्ति का चमत्कार नहीं है। न्याय पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, और आकाश अर्थात् पंच-महाभूतत्व को सृष्टि का मूल आधार मानता है। उसने यथार्थ को दो श्रेणियों में विभाजित किया है—चेतन और अचेतन। ये दोनों स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान हैं, फिर भी परस्पर संबद्ध हैं। *चेतना अचेतन से अर्थात् वस्तुगत यथार्थ से अभिन्न रूप से संबद्ध* है। दोनों गतिशील हैं। इतना होते हुये भी चेतन-अचेतन का संयोजक एक शाश्वत परमाणविक तत्व भी विद्यमान है, जिसे मनस् कहते हैं। मनस् दोनों की सक्रियता में माध्यम का कार्य करता है। संसार का गठन करने वाले परमाणविक तत्व पांच भौतिक तत्व हैं, वे भी शाश्वत और यथार्थ हैं। अणुओं-परमाणुओं के मिलने से ही चेतन-अचेतन (जड़ चेतन) की उत्पत्ति संभव होती है।

न्याय में पंचमहाभूतों के साथ काल, अवकाश, मस्तिष्क और आत्मा को चार प्रकार की भौतिक विषयवस्तु के रूप में स्वीकारा गया है। आत्मा की विशेषताएँ हैं—अभिलाषा, घृणा, आनन्द, दु:ख, लिप्सा, द्वेष, इच्छा और प्रयत्न। शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता और न ही उसमें सक्रियता का होना संभव हो सकता है। शरीर अनुभवों का आधर स्थल है। वह कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का धारक है। वह परमाणविक संयोजन है। यह संयोजन ही आत्मा है। आत्मा का लक्षण है ज्ञान या संज्ञान। बुद्धि को भी ज्ञान ही कहा गया है। वह मन की ऐसी शक्ति है जो गुण-दोष का विवेचन करती है। मन का लक्षण या उसके अस्तित्व का कारण यह है कि वह इंद्रियजन्य अनेक प्रतिबिंबों को एक साथ प्रविष्ट होने से नियंत्रित करता है। वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि ''यदि इन्द्रियों का वस्तुओं से स्वयमेव, मस्तिष्क से संपर्क के बिना संपर्क संज्ञान का एकमात्र कारण होता तो एक

साथ ही कई बातों का संज्ञान संभव होना चाहिए था।"

इस तरह न्याय के अनुसार मस्तिष्क सत्य का ज्ञान करने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन है। अनुमिति और तर्क आदि मस्तिष्क की ही प्रणालियां हैं। ज्ञाता और ज्ञेय के संपर्क के बिना सत्यानुभूति नहीं हो सकती। ज्ञान तभी प्रामाणिक या वैध होता है, जब ज्ञेय वस्तु या ज्ञेय विषय से उसका मेल हो। प्रामाणिक ज्ञान से ही कर्म का लक्ष्य निर्धारित होता है। लक्ष्य निर्धारण के बिना किया हुआ कार्य निष्फल होकर हताशा पैदा करता है।

इस सबके बावजूद न्याय ने ज्ञान प्राप्ति अथवा सत्य को ग्रहण करने के लिए तर्क को ही केन्द्रक के रूप में आवश्यक माना। गौतम के अनुसार दु:ख और पीड़ा से मुक्ति तभी हो सकती है, जब सोलह उपकरणों से सत्य की पहचान कर ली जाय। ये सोलह उपकरण हैं—प्रमाण, प्रमेय, दृष्टांत, संशय, प्रयोजन, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान।

न्याय में प्रमाण की प्रधानता है, प्रमेय गौण। प्रमाण सही ज्ञान तक पहुँचने की प्रणाली है। प्रमेय में ज्ञान की विषयवस्तु को लिया जाता है, जिसमें शरीर, आत्मा, इंद्रियां, ऐंद्रिय ज्ञान की वस्तुएं, बुद्धि, मस्तिष्क, क्रिया, प्रमाद, पुनर्जन्म, कर्मफल, दु:ख और दु:ख निवारण या मुक्ति आदि को सम्मिलित किया जाता है।

प्रमाण का प्रत्यक्ष प्रकार ज्ञान का वह स्वरूप है जो इंन्द्रियों अथवा किसी से संपर्क के फलस्वरूप प्राप्त होता है और जो साफ तौर पर शब्दों में व्यक्त किया जाने योग्य व त्रुटिरहित होता है। न्याय में इन्द्रियानुभव को ज्ञान की प्रक्रिया में आरंभिक बिन्दु माना गया है। ज्ञान प्राप्ति के लिए प्राथमिक है ज्ञान की विषयवस्तु। दूसरी अवश्यकता है ज्ञान प्राप्ति के लिए उपकरण की, जैसे अंधेरे में प्रकाश। तीसरी आवश्यकता है इंद्रियां, चौथी मस्तिष्क और पांचवीं जरूरत है ज्ञान की प्राप्त करने वाले जिज्ञासु की। इन पांचों में से किसी के विकृत होने पर सही ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी। जैसे आंख, नाक या कान आदि में विकार हो तो इन्द्रियानुभव विकृत होगा, उसी तरह मस्तिष्क या मन उत्तेजना या प्रमाद से ग्रस्त हो तो भी ज्ञान प्रदूषित होगा। त्रुटियों और भ्रमों को दूर करने के लिए संशय, उदाहरण, वाद-विवाद, हेत्वाभास, जल्प, छल, वितंडा और खंडन को भी ज्ञान की प्राप्ति के लिए उपकरण या साधन के रूप में समझा जाता है। गौतम के अनुसार संशय की उत्पत्ति समानता में विरोध और विरोध में समानता की आशंका से होती है। अत: वास्तविकता की ओर बढ़ने में वह भी उपकरण का काम देता है। इसी प्रकार उपर्युक्त अन्य उपकरणों की अपनी-अपनी उपयोगिता होती है।

प्रत्यक्ष प्रमाण को पुराने अनुभव अथवा तर्क पर आधारित नहीं रहना पड़ता, क्योंकि वह तात्कालिक वस्तु के साक्षात्कार पर निर्भर करता है, लेकिन अनुमान अथवा

अनुमिति तर्क की वह प्रक्रिया है, जिससे किसी अज्ञात विषयवस्तु को किसी ज्ञात विषय के आधार पर, जिसका स्वरूप सार्वजनिक होना है, जाना जाता है। किसी वस्तु विशेष अथवा वक्तव्य के सत्य को उजागर करने के लिए गौतम ने हेत्वनुमान के प्रयोग का सूत्रपात किया। हेत्वनुमान के पांच अंग हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जैसे—

प्रतिज्ञा	-	पहाड़ी में आग लगी है
हेतु	-	क्योंकि उसमें से धुआं उठ रहा है
उदाहरण	-	जहां भी धुआं होता है, वहां आग होती है, जैसे रसोईघर में
उपनय	-	पहाड़ी से धुआं उठ रहा है
निगमन	-	अतः पहाड़ी में आग लगी है

तर्क प्रणाली में हेत्वनुमान के उपर्युक्त पांच अवयवों का प्रयोग वास्तविकता को प्रमाणित करने के लिए किया जाता है। गौतम के अनुसार दो पक्षों (पक्ष और विपक्ष) के वाद-विवाद में अथवा शास्त्रार्थ में पक्ष और प्रतिपक्ष अथवा पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष (मंडन-खंडन या खंडन-मंडन) का प्रयोग किया जाता है।

उपमान प्रमाण में किसी सुविख्यात वस्तु के सामान्य गुणधर्म की समानता से किसी साध्य वस्तु को सिद्ध किया जाता है। जैसे गाय के सामान्य गुणधर्म की समानता का वर्णन कर किसी नागरिक को कहना कि जंगल में गाय जैसा एक जानवर होता है, उसे नीलगाय कहा जाता है। इससे नगर का वासी नीलगाय को पहचानने में समर्थ हो जाता है।

गौतम ने किसी सत्यवादी के उपदेश अथवा आप्त वाक्य को भी अर्थात महान् व्यक्ति या व्यक्तियों की वाणी को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। इसे शब्द-प्रमाण कहा गया है। शब्द-प्रमाण दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष वह है जिसे सामने रखकर विश्लेषण द्वारा सिद्ध किया जाता है और परोक्ष वह है जिसे प्रत्यक्ष में अभावात्मकता को दिखाकर सिद्ध किया जाता है। प्रमाण में शब्द-प्रमाण को सम्मिलित करने में गौतम का आशय वैदिक ऋचाओं को प्रामाणिक मान्यता प्रदान करना था, किन्तु व्यापकता के साथ देखा जाये तो इसकी सार्थकता प्रदत्त सिद्धियों को बार-बार दोहराने की व्यर्थता से बचने में भी देखी जा सकती है।

न्याय दार्शनिकों को भारतीय तर्क प्रणाली के सर्जक कहा जा सकता है, किन्तु यह मिथ फैलाना कि सिकंदर को भारत विजय के समय यहां के ब्राह्मणों ने उसके एक सेनारत विचारक कैलीस्थेनीज को न्यायशास्त्र की शिक्षा दी थी, जिसे उसने अरस्तू को बताया, जिससे अरस्तू ने अपना तर्कशास्त्र खड़ा किया, एक भ्रांत धारणा है। पहले ऐसी चर्चा का पूर्वी देशों में काफी प्रचार-प्रसार हुआ। लेकिन आधुनिक विद्वानों ने

इसे स्वीकार नहीं किया। इनमें स्वयं जवाहरलाल नेहरू भी थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में लिखा— "वास्तव में न्याय का अर्थ है तर्कशास्त्र या सही तर्क का विज्ञान। कई मायने में यह अरस्तू के न्याय वाक्यों के समान है, यद्यपि दोनों के बीच आधारभूत अन्तर भी है। न्याय तर्कशास्त्र के अन्तर्निहित सिद्धांत अन्य सभी मतों (भारतीय दर्शन प्रणालियों) द्वारा स्वीकार किये गये थे तथा समूचे प्राचीन व मध्यकाल के दौरान व आज भी भारतीय विद्यालयों व विश्वविद्यालयों में एक मानसिक अनुशासन के रूप में पढ़ाये जाते हैं।

लोकायत व न्याय के विचारों की समानता दर्शाते हुए राममोहन राय ने अपनी रचना 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसोफी' में इस तथ्य की ओर संकेत दिया कि न्याय दर्शन का प्रथम प्रारूप वृहस्पति के द्वारा तैयार किया गया, इसीलिये भारतीय वृहस्पति को आदि तार्किक अथवा सबका आदि गुरु मानते हैं।

राहुल सांकृत्यायन ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में 'न्याय' को ईश्वरवादी दर्शन की श्रेणी में शामिल किया है और साथ ही उन्होंने कहा है कि 'अक्षपाद गौतम का न्यायशास्त्र बुद्धिवादी है।' इधर के. दामोदरन ने 'भारतीय चिंतन परंपरा' में 'न्याय और वैशेषिक' को मूलतः दर्शन की अनीश्वरवादी प्रणालियां कहते हुए लिखा है कि "..... किन्तु उनमें उस ऐतिहासिक काल की सीमाओं को देखते हुए अनिवार्य त्रुटियां, यहां तक कि विरोधाभास मौजूद हैं। इन त्रुटियों और विरोधाभासों का आदर्शवादी विचारकों ने बाद में बड़ी चतुराई से इस्तेमाल किया। - बाद के भाष्यकारों ने आत्मा को जीवात्मा और परमात्मा तक बना दिया और इस प्रकार ईश्वरवाद के प्रवेश के लिये द्वार खोल दिये।" एम. हिरियन्ना ने 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा' (265) में 'न्याय-वैशेषिक' संदर्भ में कहा है कि न्याय में "— ईश्वर को परमात्मा कहा गया है। वह ज्ञान या इच्छा से रहित नहीं है, बल्कि सुख-दुःख, राग-द्वेष से रहित है और इसलिये सदैव सक्रिय रहता हुआ भी कदापि स्वार्थपूर्ण कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अतः इस दृष्टिकोण से संसार में मनुष्य का प्रयत्न तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, स्वार्थपरता का पूर्णतः त्याग करके इच्छा के परिष्कार, दुःख को सहने और द्वेष के पूर्ण उन्मूलन के लिये होना चाहिये।" इधर सतीशचन्द्र ने अपने 'भारतीय दर्शन' के उसंहार (145) में लिखा है—"न्याय दर्शन में ईश्वर को संसार का कर्त्ता माना गया है, अर्थात् उसे केवल निमित्त-कारण माना गया है, उपादान-कारण नहीं। इससे यह मालूम पड़ता है कि भगवान की तुलना मनुष्य जैसे कर्त्ताओं के साथ की गई है। उपादान से वस्तुओं के निर्माण का कार्य तो मनुष्यों में प्रायः देखा जाता है। यह सही है कि न्याय में कहीं-कहीं कहा गया है कि ईश्वर के साथ इस संसार का वही संबंध है जो शरीर का आत्मा से है। किन्तु न्याय में इस विचार का विस्तार पूर्णेश्वरवाद (Theism) के रूप में नहीं हुआ है।"

इस सबके देखने पर यह कहा जा सकता है कि न्याय मुख्य रूप से तर्कप्रधान और द्वन्द्वात्मक प्रणाली होने के साथ सापेक्ष ईश्वरवादी अथवा सापेक्ष आदर्शवादी प्रणाली है।

वैशेषिक—एम. हिरियन्ना और देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय दोनों ने न्याय और वैशेषिक को एक साथ मिलाकर 'न्याय-वैशेषिक' के रूप में लिया है, जबकि राहुल सांकृत्यायन, सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय और के. दामोदरन ने उनमें समसामयिकता और समानता दिखाते हुए भी उनको अलग-अलग अध्यायों में विभाजित किया है। विचारकों में कुछ न्याय को पहले और वैशेषिक को बाद में लेते हैं तो दूसरे वैशेषिक को पहले और न्याय को बाद में। वैसे न्याय और वैशेषिक दोनों का आरंभ ई.पू. तीसरी शताब्दी में माना जाता है। राहुल जी ने न्याय को ईश्वरवादी और वैशेषिक को अनीश्वरवादी दर्शन श्रेणी में विभाजित भी कर दिया है। किन्तु वास्तविक स्थिति यह लगती है कि न्याय और वैशेषिक विचारों का दार्शनिक पक्ष भौतिकवादी है जबकि उनका नैतिक या धार्मिक पक्ष आदर्शवादी। तत्कालीन दर्शन और धर्म में स्पष्ट विभाजन न होने के कारण न्याय और वैशेषिक दोनों के साथ घालमेल की स्थिति पैदा हो गई। जगत की संरचना में न्याय और वैशेषिक की केन्द्रीय चेतना, तर्कप्रधान तात्विक और परमाणविक प्राथमिकता को व्यक्त करना है—जो गौतम और कणाद दोनों का चिंतनाधार है। यही भौतिकवादी चिंतनमूल लोकायतिक बृहस्पति, बुद्ध, महावीर और कपिल का रहा है, किन्तु उनके बाद के भाष्यकारों, व्याख्याकारों और धूर्त घुसपैठियों ने अपने अनुकूल, परिस्थितिजन्य दबावों के अनुसरण और वर्णव्यवस्था व वर्गविभाजन की तीव्रता के वशीभूत इन दर्शन प्रणालियों को आध्यात्मवादी या आदर्शवादी आवरणों में छिपाने की कुचेष्टाएं कीं, फिर भी दर्शन की प्राथमिकताओं की गहराई और निरपेक्षता के साथ जांच की जाय तो लोकायत से लेकर बाकी सभी उपर्युक्त प्रणालियां (बौद्ध, जैन, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक) द्रव्यमूलक, तत्त्वप्रधान, तर्कसंगत, भौतिकवादी और वेदांत विरोधी रही हैं—यह निष्कर्ष है सभी दर्शनविदों के विश्लेषण का। इनमें न कहीं ईश्वर की प्राथमिकता है, न पुरुष की और न ही किसी रहस्यमयी अदृष्ट शक्ति की। सृष्टि का मूल या प्रथम तत्त्व कहीं पदार्थ है, कहीं पांच महाभूत या पच्चीस तत्त्व, कहीं पुद्गल, कहीं परमाणु, कहीं प्रकृति आदि। यहां जहां कहीं पुरुष, आत्मा, परमात्मा, ईश्वर आदि हैं उनमें से कोई भी प्राथमिक और प्रधान नहीं, बल्कि गौण, संशयात्मक, सहायक या द्वितीयक है अथवा कोई है ही नहीं—जैसे लोकायत में।

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद थे। ये तीसरी सदी ई.पू. के दार्शनिक कहे जाते हैं। उन्होंने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। लेकिन वर्तमान में जो संपादित सूत्रों का संकलन उपलब्ध है, वह पहली शताब्दी का है। वैशेषिकों पर भारत के तत्कालीन

प्राकृतिक वैज्ञानिकों के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा होगा, क्योंकि वैशेषिक चिंतन का मौलिक अन्तर्व्य उसका परमाणुवाद है। उसके अनुसार इंद्रियगम्य जगत के विकास का आधार असंख्य परमाणुओं का संगठन है। परमाणु अनादि हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन्हीं परमाणुओं के प्रकारांतर हैं। 'पृथ्वी परमाणु', 'जल परमाणु', 'तेज (अग्नि) परमाणु' और 'वायु परमाणु' परमाणु प्रकार हैं। आकाश (ईथर) की कोई आणविक रचना नहीं है। यह अणुओं के बीच के शून्य को भरता है।

परमाणु को अभेद्य माना गया है। वह ऐसा सूक्ष्मतम अणु है जिसे अविभाज्य समझा गया है। प्रत्येक परमाणु विशेष अर्थात् अन्यान्य विशिष्टताओं के साथ होता है। ये विशेषताएं उतने ही प्रकार की हैं, जितने स्वयं परमाणु हैं, अन्य सभी से अलग। यहां तक कि वैशेषिक दर्शन मानव चेतना को भी भौतिक परमाणुओं के संगठन का प्रतिफल मानता है, इस अर्थ में जगत की संरचना को भौतिकीय रचना स्वीकारता है।

डॉ. एस.सी. चट्टोपाध्याय और डॉ. डी.एम. दत्त के अनुसार वैशेषिक संसार की सभी वस्तुओं को सात पदार्थों में विभक्त करता है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। द्रव्य गुण और कर्म का आश्रय है तथा इनसे भिन्न है। द्रव्य नौ प्रकार का होता है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इनमें प्रथम पांच भौतिक हैं, जिनके गुण क्रमश: गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु क्रमश: चार प्रकार के परमाणुओं से बने हैं। परमाणु भौतिक, अविभाज्य और अनश्वर होते हैं तथा उनकी सृष्टि भी नहीं होती, वे शाश्वत हैं, सूक्ष्मतम हैं। आकाश, दिक् तथा काल अप्रत्यक्ष द्रव्य हैं। वे एक-एक, नित्य और सर्वव्यापी हैं। मन नित्य है, किन्तु विभु या सर्वव्यापी नहीं है। यह परमाणु की तरह अनंग और अंतरिन्द्रिय है। यह बुद्धि, भावना तथा संकल्प जैसी मानसिक क्रियाओं का सहायक होता है। मन से एक साथ एक ही अनुभूति हो सकती है, क्योंकि यह परमाणु की तरह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। आत्मा भी शाश्वत और सर्वव्यापी द्रव्य है। यह चेतना की सभी अवस्थाओं का आश्रय है। मानव के मन के द्वारा अपनी आत्मा की अनुभूति होती है। सांसारिक वस्तुओं के निर्माता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है।

वैशेषिक के अनुसार 'गुण' केवल द्रव्य में पाया जाता है। उसे उस द्रव्य की अपेक्षा रहती है, जो स्वयं निरपेक्ष है। गुण के चौबीस प्रकार होते हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दु:ख, राग (इच्छा), द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, संस्कार, धर्म और अधर्म।

'कर्म' गतिशील होता है। वह द्रव्य में पाया जाता है। कर्म के पांच प्रकार हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन।

'सामान्य' किसी एक ही वर्ग का साधारण लक्षण है जैसे गाय में 'गोत्व' अर्थात्

गाय का लक्षण। द्रव्यों का पृथकत्व 'विशेष' कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य की तरह प्रत्येक परमाणु स्वयं में 'विशेष' होता है। 'विशेष' या 'विशेषों' की परिकल्पना पर इस दर्शन को 'वैशेषिक' कहा जाता है।

'समवाय' वह स्थायी संबंध है, जो अवयवी का अवयवों के साथ, गुण-कर्म का द्रव्य के साथ तथा सामान्य का घटकों के साथ पाया जाता है—जैसे कपड़े का धागों से। 'अभाव' किसी वस्तु के न रहने के कारण होता है, जैसे—'यहां कोई सांप नहीं है' से स्थान विशेष में सर्प का अभाव व्यक्त होता है। 'अभाव' चार प्रकार का होता है—प्रागाभाव, ध्वंसाभाव, अत्यंताभाव तथा अन्योन्याभाव। पहला, दूसरा और तीसरा अभाव 'संसर्गाभाव' कहलाता है। उत्पत्ति से पहले का अभाव 'प्रागाभाव', वस्तु के नाश के बाद 'ध्वंसाभाव' और सर्वकालिक अभाव (जैसे वायु में रूप का अभाव) को 'अत्यंताभाव' कहा जाता है। 'अन्योन्याभाव' वह अभाव होता है जो वस्तुओं में अलगाव दिखाता है, जैसे घट पट नहीं, न पट ही घट है।

वैशेषिक और न्याय दोनों ईश्वर और मोक्ष के विषय में एकमत हैं, किन्तु वैशेषिक विश्व को तत्वमीमांसा की दृष्टि से देखता है, तो न्याय उसे ज्ञानमीमांसक की दृष्टि से। वैशेषिक सात पदार्थों का विवेचन करता है, तो न्याय सोलह पदार्थों का। न्याय प्रमाण और प्रमेय को प्रमुखता प्रदान करता है, इसमें भी प्रमाण को पहला पदार्थ मान लिया गया है। न्याय के लिये यह उतना आवश्यक नहीं है कि वस्तुएं स्वतः क्या हैं, जितना यह कि उनके अस्तित्व को किन प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है। वह वैशेषिक के वस्तुओं के स्वतंत्र अस्तित्व को बिना संदेह स्वीकार कर लेता है, किन्तु उनके ज्ञान के भ्रमपूर्ण होने की आशंका को दरकिनार नहीं करता, अतः वह यथार्थ चिंतन के नियमों के अन्वेषण में अपने आपको केन्द्रित कर लेता है।

वैशेषिक का परमाणुवाद प्राचीन जैन दर्शन के परमाणुवाद का विकसित रूप प्रतीत होता है। जैन अवधारणा के अनुसार सभी भौतिक वस्तुएं सूक्ष्मतम परमाणुओं से निर्मित हैं। परमाणु परस्पर मिलकर स्कंधों का निर्माण करते हैं। कणाद के अनुसार भी संसार का विकास परमाणुओं से हुआ है। वह चेतना से बाहर और उससे स्वतंत्र है। वह ज्ञेय है, अतः ब्रह्मांड की हर विशेषता ज्ञान की परिधि में समझी जा सकती है। विशिष्टताओं के ज्ञान की प्रक्रिया ही वैशेषिक होती है। वैध ज्ञान की प्राप्ति के लिये चार विधियां अपनायी जानी चाहिये—प्रत्यक्ष, लैंगिक, स्मृति और आर्ष। इनको न्याय प्रणाली के 'प्रमाण' और 'प्रमेय' के आधार पर साफ तौर पर समझा जा सकता है, जिन्हें इससे पूर्व दर्शाया गया है। वास्तव में न्याय और वैशेषिक का अध्ययन इसीलिए एक साथ किया जाता है कि दोनों में काफी हद तक समानताएं परिलक्षित हैं।

कणाद ने आरंभ से ही धर्म के प्रति जिज्ञासा को प्रस्तुत किया। उनके अनुसार

धर्म ईश्वर अथवा किसी अलौकिक शक्ति पर आस्था नहीं है, बल्कि वह ज्ञान द्वारा निर्धारित एक रास्ता, जिसका अनुसरण स्थायी कल्याण के लिये किया जाता है।

अत: वैध ज्ञान की प्राप्ति के बिना धर्म को नहीं समझा जा सकता। वैध ज्ञान अथवा प्रामाणिक सत्य वस्तुगत जगत की प्रकृति के विशेष गुण-धर्म अथवा विशिष्टताओं को व्यावहारिक क्रियाओं द्वारा अनुभूत करके ही प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा वह भ्रामक होकर अंधी आस्था या अधर्म में अंतरित हो जाता है। वैशेषिक सूत्र है— "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्नि: श्रेयसम्।" अर्थात् विभिन्न पदार्थों के सारतत्व के ज्ञान, उसमें साम्य और विषमता, अपृथकत्व और पृथकत्व के ज्ञान से ही सर्वोपरि कल्याण होता है।

वैशेषिक ने पांच भौतिक तत्वों और काल, दिक्, आत्मा और मनस् (मस्तिष्क) जैसे चेतनिक उपकरणों को द्रव्यों में विभाजित किया और बताया कि किस प्रकार उनके संयुक्त अथवा संयोजित होने से अलग-अलग वस्तुओं और घटनाओं की उपस्थिति लक्षित होती है। कणाद ने पदार्थों का विश्लेषण और उनकी विशेषताओं के अध्ययन के द्वारा वैश्विक ज्ञान की इस प्रणाली को प्रस्थापित किया और उनके अनुयायी अपने भाष्यों और टीकाओं के माध्यम से उसे सैकड़ों वर्षों तक विकसित करते रहे। वैशेषिक के वर्तमान स्वरूप को हम तीसरी सदी ई.पू. से आगे लगभग एक सहस्राब्दी तक भाष्य-व्याख्या के रूप में विकसित हुआ देख सकते हैं। सबसे प्राचीन भाष्य प्रशस्तपाद का बताया जाता है, जो ईसा की पांचवीं सदी में रचा गया था। हरियिन्ना के अनुसार प्रशस्तपाद का भाष्य व्याख्या होने की बजाय सूत्रों की पुनरावृत्ति अधिक है और पुनरावृत्ति करते समय वह उसे, बड़ी हद तक परिवर्द्धित भी करता जाता है। उदाहरण के रूप में हरियिन्ना ने बताया कि वैशेषिक प्रणाली के इतिहास में सृष्टि के सिद्धांत का ऐसा प्रतिपादन पहली बार यहीं मिलता है जिनमें ईश्वर को सृष्टा बताया गया है।

के. दामोदरन ने ('भारतीय चिंतन परम्परा'- 169) निष्कर्ष दिया है कि सांख्य की तरह वैशेषिक भी मूलत: एक तर्कसंगत भौतिकवादी दर्शन था और आदर्शवादी भाष्यकारों के हाथ में पहुंचने पर बाद में इसमें भी विकृतियां और अन्तर्विकृतियां हुईं। ऐसा विशेषकर भारत में सामंतवाद के काल में हुआ। कार्य के अदृष्ट कारण को रहस्यवादियों ने वैशेषिक प्रणाली में ईश्वर की घुसपैठ करवा दी।

कणाद के परमाणुवाद और डेमोक्रेटस के परमाणुवाद का एक साथ अध्ययन करने पर अनेक तुलनात्मक बातें सामने उपस्थित हो जाती हैं। पहली बात तो यह कि यूनान के डेमोक्रेटस कणाद से पूर्ववर्ती थे, तो संभव है पूर्ववर्ती का प्रभाव परवर्ती कणाद पर पड़ा हो अथवा दो अलग-अलग देशों के विचारकों के विचार स्वतंत्र

तुलनीय स्तर पर आ पहुंचे हों। दोनों में सबसे मुख्य समानता यह है कि दोनों ने सृष्टि को परमाणुमय माना है। दोनों के अनुरूप परमाणु ही सृष्टि का सूक्ष्मतम और अविभाज्य घटक है। इसके साथ दोनों यह भी मानते हैं कि परमाणु का परिमाण भी होता है।

वैशेषिक और यूनानी परमाणुवाद में कुछ बातों में इतना स्पष्ट अन्तर है कि जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, जैसे (1) यूनानी परमाणुवाद में परमाणुओं में गुण की समानता और परिमाण अथवा संख्या का अंतर है, जबकि वैशेषिक परमाणुवाद में परमाणुओं में गुण और परिमाण दोनों का अंतर माना जाता है, (2) यूनानी परमाणुओं में विशिष्ट या गौण गुण नहीं मानते, जबकि वैशेषिक परमाणुओं में विशिष्टिताओं को स्वीकारता है, (3) यूनानी परमाणु को स्वभावत: गतिशील मानते हैं, जबकि वैशेषिक परमाणु को स्वभावत: गतिरहित मानता है, और (4) यूनानी मानते हैं कि परमाणुओं से आत्माएं भी बनती हैं, किन्तु वैशेषिक परमाणुओं और आत्मा में अंतर को मान्यता देते हैं और परमाणु और आत्मा दोनों को अपना विशेष व्यक्तित्व लिये हुए समान रूप से नित्य और स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं।

राहुल जी ने कणाद के 'सामान्य-विशेष' के चिंतन को पाइथागोरस के आकृतिमूलात्मक विचार के विकास करने वाले प्लेटो द्वारा अवधारित विज्ञानवाद के अन्तर्निहित सामान्य-विशेष संबंधी धारणा का अनुचिंतन माना है। इसके कारण की ओर संकेत करते हुए उन्होंने अपने 'दर्शन-दिग्दर्शन' (449) में लिखा है— ''यूनानियों के भारत से घनिष्ठ संबंध स्थापित करने (ई.पू. 323) से पहले के भारतीय साहित्य में इस ख्याल का बिल्कुल अभाव है।' इससे आगे उन्होंने यह और कहा है कि— ''इन बातों के साथ   भारत के यूनान से घनिष्ठ संबंध तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान को देखते हुए यह आसानी से समझ में आ सकता है कि ये सादृश्य आकस्मिक नहीं हैं।''

वैशेषिक में सृष्टि के आरंभ, प्रलय और पुनर्निर्माण में परमाणविक कारणवाद की भूमिका को भी निर्धारित किया गया है। यह माना गया है कि सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद वापिस सृष्टि और इस प्रकार पुनरावृतियों का क्रम चलता आया है और चलता रहेगा। दो सृष्टियों के बीच के अंतराल को 'कल्प' कहा जाता है। प्रलय में जीवात्मा-परमात्मा सब नष्ट हो जाते हैं। सारे परमाणुओं का संयोजन विखंडित हो जाता है और परमाणु बिखर जाते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के महाभूत भी अदृष्ट में विलीन हो जाते हैं। जो बचते हैं वे हैं चार भूतों के परमाणु, पूर्वोक्त पांच नित्य द्रव्य (अर्थात् नौ पदार्थ) और आत्माओं के संस्कार। इन्हीं अवशिष्टों से सृष्टि की आगे की रचना होती है, परमाणुओं का वापिस संयोजन होता है और आगामी द्रव्यों और जीवात्माओं का आरंभ होता है। इसीलिये कुछ इसे असत् कार्यवाद भी कहते हैं।

वैशेषिक को ईश्वर केन्द्रित दर्शनों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वह प्रमुखतः परमाणुवादी अथ च अनीश्वरवादी है। उसका सारतत्व वह पदार्थ-चिंतन है जो सामान्य और विशेष अथवा वैशेषिकता के सहसंबंध को व्यक्त करता है। उसमें ईश्वर का नितांत गौण स्थान है, शायद प्रक्षेपित भी। यह एक तरह की परिस्थितिजन्य विवशता ही कही जा सकती है। प्रत्ययवादियों के बीच कणाद घोषणा करता है कि प्रकृति की गतिशील प्रवृत्ति में अलौकिकता जैसी कोई बात नहीं है। कणाद ईश्वर को परमाणुओं के अधीन कर उसे हाशिये में डाल देता है।

सिकंदर के अभियान के साथ भारत के शासन तंत्र पर यूनान का प्रभाव पड़ना आरंभ हो चुका था, जो बहुत समय तक विस्तृत होता चला गया। इससे दोनों देशों की शासन प्रणालियों, सभ्यताओं, व्यापारों और लौकिकताओं का व्यापक स्तर पर आदान-प्रदान व सम्मिश्रण तो हुआ ही, अपितु इससे भी अधिक गहराइयों में उतरकर अनेक सांस्कृतिक, साहित्यिक, कलात्मक तथा वैचारिक गतिविधियों को भी प्रभावित किया। ज्योतिष, मूर्तिकला, चित्रण, नाट्यकला, नृत्य, प्रसाधन की विविध विधाओं ने तो परस्पर प्रभावों को आत्मसात् किया ही, अपितु सर्वाधिक महत्वपूर्ण मस्तिष्कीय अनुसंधान प्रक्रिया को भी विकसित किया। दर्शन की विविध प्रणालियों और वैचारिक द्वन्द्वों के अन्तर्गत चलने वाले वाद-विवादों को नवाचार व अपूर्व आयाम हस्तांतरित किये। आकृतिवाद, परमाणुवाद, विज्ञानवाद, सामान्य-विशेष अवधारणा, कार्य-कारणवाद, प्रमाणवाद, द्रव्य-गुण, परिणाम-परिमाण तथा गति, दिक्, काल आदि से संबंधित धारणाओं में भी विनिमय प्रक्रिया चलती रही।

यह दासप्रथा के अवशेषों और राजशाही सामंतवाद के विकास का समय था। खेती में प्रगति हो रही थी। नयी जमीनों को साफ किया जा रहा था। बंगाल, बिहार, असम, उड़ीसा, और दक्षिणी भारत के तटवर्ती प्रदेशों में धान की अनेक किस्मों को पैदा किया जाने लगा था। धान के अलावा गेहूं, जौ और तिल के कई प्रकार उभर रहे थे। सब्जियों, मसालों और फलों के प्रकारों में बेहतरी हो रही थी। यहां तक कि चावल और गेहूं के निर्यात से बाहरी व्यापार को बढ़ाया जा रहा था। पशुपालन, मत्स्यग्रहण और वन संवर्द्धन का काम भी तरक्की पर था। दास-स्वामी अब राजा-सम्राट् बन चुका था और दास अब भूदास अथवा किसान के रूप में रूपांतरित हो चुका था। वर्णव्यवस्था के सुदृढ़तर होने से राजा और पुरोहित (बौद्धिक प्रतिनिधि) वंशानुसार अथवा वर्चस्व बढ़ाते जा रहे थे। राजा ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप या अवतार हो चुका था और ब्राह्मण या पुरोहित चिंतक, विधि कर्मवेत्ता आदि। व्यापारी वैश्य दोनों का सहायक था—बीच का बिचौलिया। भूदास खेतिहर उत्पादक, किन्तु शोषित-उत्पीड़ित था और शूद्र-दास दलित, उत्पीड़ित, दंडित, अछूत तथा सब प्रकार के अधिकारों से वंचित। बुद्धिजीवी दार्शनिकों में वैदिकों और वेदविरोधियों,

कर्मकांडवादियों और कर्मकांड आलोचकों, ईश्वरवादियों और अनीश्वरवादियों, आध्यात्मवादियों और भौतिकवादियों, आस्तिकों और नास्तिकों तथा आस्थावादियों और तर्कशास्त्रियों में गहरा वाद-विवाद, पक्ष-प्रतिपक्ष, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष अथवा दार्शनिक द्वन्द्वात्मकता का बोलबाला था। इस पर राजाओं की प्रतिस्पर्धाओं, ऊंच-नीच के भेदभाव, मालिकों और वंचितों के झगड़े, जातिगत व सांप्रदायिक लड़ाइयां और देशी-विदेशी टकराव उपर्युक्त वैचारिक संघर्ष को प्रभावित कर रहे थे। चिंतन प्रक्रिया पर तत्कालीन राष्ट्रीय स्तर के अंत:संबंधों और अंतर्विरोधों के और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों और विरोधों के प्रभाव को भी समझना अनिवार्य होगा।

इस समय के समाज में रचित न्याय-वैशेषिक दर्शन प्रणालियों का महत्वपूर्ण आधार तत्कालीन लौकिक चर्चाओं या जनता में प्रचलित जिज्ञासाजन्य वाद-विवाद है। जो सत्य लोगों को दु:ख से छुटकारा दिलाए, जनसाधारण उसी को प्राप्त करने की लालसा रखता है, क्योंकि उनके लिये वह ज्ञान तभी विश्वसनीय होता है, जब संशय, जल्प (झूठ), वितंडा (धोखा), भ्रम आदि से रहित सिद्ध किया गया हो। अंतत: लोग कहते हैं— "अरे भाई, छलछंद छोड़कर सही बात को सामने आने दे।" या "इसमें तो धोखा लगता है।" अथवा "इसका क्या सबूत है?" "वह तो चालबाजी से बात करता है।" "साधो भाई, पाखंड में कुछ नाहीं रे!" या "न तत्सत्यं यत छलेनाभ्युपेतम"। ये एवं इसी तरह की अन्य ठेठ लोकानुभूतियों के आधार पर सत्य की पहचान हेतु पूर्वोक्त सोलह उपकरणों में संशय, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास और छल को स्थान दिया गया।

न्याय-वैशेषिक युग्म को सृष्टि में प्राथमिकता और ज्ञेयता की दृष्टि से परखा जाय तो नतीजतन कहा जायेगा कि वह नास्तिक, अनीश्वरवाद और साथ ही द्वैतवादी भी है। न्याय के मूलत: ज्ञानमीमांसक और वैशेषिक के मूलत: तत्वमीमांसक होने से दोनों के संयुक्तक युग्म या जोड़े को ज्ञान तत्व मीमांसक ही कहा जायेगा। इस युग्म के अनुसार सृष्टि की संरचना में परमाणवीय पदार्थ तत्व प्राथमिक हैं— ईश्वर नहीं। ईश्वर को सहायक या द्वितीयक के रूप में गौण बनाकर हाशिये में डाल दिया गया है, अत: इस युग्म का अधिकतर चिंतनांश भौतिकवाद की परिधि में चला जायेगा और केवल पांच प्रतिशत को ही खींच-खांचकर प्रत्ययवाद में शामिल किया जा सकता है। इस अर्थ में युग्म मीमांसाओं का तत्वज्ञानात्मक या ज्ञानतत्वात्मक है न कि आध्यात्मिक, भावनात्मक, रहस्यात्मक और ईश्वरात्मक। यहां ईश्वर प्राथमिक नहीं है— प्राथमिक है परमाणु संयोजित पदार्थ। इसलिये दर्शनयुगल अनीश्वरवाद की श्रेणी में रखा जाता है। सामाजिक विवशताओं से स्वीकृत ईश्वर को गौणता को बतौर समझौते के स्वीकार करना पड़ा है। यहां ईश्वर को अज्ञेय नहीं ज्ञेय वस्तु की तरह ही माना गया है। वह अनादि और अनंत नहीं है।

यह स्थिति है दर्शन की प्रथम जिज्ञासा के प्रति, जिसे प्रश्न के रूप में इस तरह रखा जाता रहा है और आज भी रखा जाता है—

सृष्टि में प्राथमिक क्या है—द्रव्य (पदार्थ) या चेतना (आत्मा, परमात्मा या ईश्वर) ? न्याय-वैशेषिक का दो टूक उत्तर है—प्राथमिक द्रव्य या परमाणविक द्रव्य।

इसी उपर्युक्त जिज्ञासा का दूसरा दार्शनिक पहलू है— विश्व की ज्ञेयता को लेकर, जिसे प्रश्न के रूप में इस प्रकार रखा जाता है—क्या विश्व ज्ञेय है ?

न्याय-वैशेषिक इसका सकारात्मक उत्तर देते हैं—हां, यह विश्व ज्ञेय है और फिर यह युग्म इस विश्व के तत्वों का न केवल वर्गीकरण और विश्लेषण ही करता है, अपितु वह अपने तर्कमय तथा प्रामाणिक प्रमेयों से अप्रदूषित सत्य तक पहुंचने का विधिशास्त्र अथवा तर्कविज्ञान भी आविष्कृत करता है। उसकी यह प्रमाणविज्ञान की प्रस्तुति अभूतपूर्व थी।

न्याय-वैशेषिक ने पुरोहिती कर्मकांडी विधिविधान को निरर्थक समझा। भारत की एक मान्यता यह भी रही है कि जो वैदिक विधिविधान को स्वीकार न करे या वैदिक कर्मकांड का विरोधी हो वह 'नास्तिक' माना जायेगा। वह दण्डनीय भी होगा। इस मंतव्य में यह युग्म नास्तिक की श्रेणी में रखा गया।

लेकिन फिर भी ईश्वर के अस्तित्व से पिंड न छुटा सकने के कारण इसे द्वैतवादी कहा गया। इस द्वैतवाद के साथ उसमें अपने किस्म का द्वन्द्व भी है, जिसका आधुनिक ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद से कोई तालमेल नहीं। न्याय वैशेषिक ने चेतना को द्रव्याधीन मानकर स्वयं को आधुनिकता की सीमा स्पर्शिता तक पहुंचा दिया।

न्याय-वैशेषिक दर्शनद्वय ने जहां प्रमाण या तर्क विज्ञान को दर्शन के साथ एकमेक कर दिया, वहां राग-द्वेष, सुख-दु:ख आदि को लेकर नीति और धर्म को भी उसके साथ शामिल कर दिया है और मन के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक पक्षों को दार्शनिक परिधि में लाकर मनोविज्ञान को भी समाविष्ट कर दिया है। इससे जहां दर्शन में एक ओर व्यापकता ने प्रवेश पा लिया है, वहां असंबद्धता के कारण बिखराव भी पैदा हो गया है। किन्तु यह सब कुछ तत्कालीन दर्शन, विज्ञान, धर्म, नीति आदि की संयुक्तता की परम्परा के अनुसरण की मजबूरी के कारण हुआ है।

● ●

सकता है। मीमांसा में 12 अध्याय और लगभग 3000 सूत्र हैं। इनमें बताया गया है कि मनुष्य द्वारा क्या किया जाना चाहिये और क्या नहीं किया जाना चाहिये। पूर्वकालिक मनीषियों ने जीवन के तीन लक्ष्य निर्धारित किये— धर्म (कर्त्तव्य), अर्थ (सम्पत्ति) और काम (इच्छापूर्ति)। बाद में इसमें 'मोक्ष' को भी जोड़ दिया गया। मीमांसा में सर्वप्रथम धर्म की जिज्ञासा को केन्द्र में रखा गया है—धर्म क्या है?

मीमांसा में वर्णित धर्म अथवा कर्त्तव्य का आधार वैदिक संहिता है। यहां कर्म के लिये वेद के आदेश को ही धर्म कहा गया है, जिसका फल पुनर्जन्म में प्राप्त होगा। पुनर्जन्म में आस्था वह कर्मप्रेरणा है, जिससे मनुष्य सदाचरण में प्रवृत्त होता है। अगले जन्म में स्वर्ग चाहते हो, तो तुम्हें अग्निहोत्र यज्ञ करना होगा। ज्ञानेन्द्रियों के विकास की इच्छा हो, तो होम की क्रिया में प्रवृत्त होना पड़ेगा। कर्मफल का दाता नहीं होता, अच्छा कर्म स्वयं ही अच्छे फल का दाता होता है, जिसका दूसरा पक्ष है कि बुरा काम स्वयं ही दंड देने में समर्थ होता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि कर्म स्वयं अपना फल पैदा कर लेता है। दूसरी तरह से यह कहा जा सकता है कि कर्म स्वयं परिणाम का कारण होता है, कोई दूसरा कारक नहीं होता, दाता या प्रदाता बनने का गौरव प्राप्त नहीं कर सकता।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—अनिवार्य और ऐच्छिक। अनिवार्य कर्म वे होते हैं, जिनके उल्लंघन से पाप होता है। ऐच्छिक कर्म करने से यश मिलता है। निषिद्ध कर्म मनुष्य के लिये हानिकारक सिद्ध होते हैं। आदेशित और निषेधित कर्म वेदों द्वारा आदेशित और निषेधित होते हैं। ये न तो मनुष्य द्वारा आदेशित या निषेधित हो सकते हैं और न ही ईश्वर द्वारा आदेशित या निषेधित।

मीमांसा में वैदिक कर्मकांड का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। यहां कर्मकांड का आधार वेद हैं। वेद मनुष्य द्वारा रचित नहीं हैं। वे अपौरुषेय तथा अनित्य हैं, अत: पौरुषेय दोषों से रहित हैं। ऋषियों ने वेद को प्रकाशित किया है, रचा नहीं। मीमांसा के अनुसार समस्त ज्ञान (वेद) स्वत: प्रमाण है। पर्याप्त सामग्री रहने से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियों के दोषरहित होने से, वस्तुओं के सन्निकट रहने से तथा अन्य सहायक कारणों के उपस्थित रहने से ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। पर्याप्त सामग्री रहने से अनुमान भी होता है। जैसे भूगोल की पुस्तक हम शब्द प्रमाण द्वारा परोक्ष देशों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर उसे निर्विवाद स्वीकार कर लेते हैं, वैसे ही वेदाध्ययन से शब्द प्रमाण के माध्यम द्वारा हम परोक्ष को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। तब हमें अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। वह संदेहरहित होने से विश्वसनीय होता है।

ज्ञान में विश्वास का होना नितांत आवश्यक होता है। यदि ज्ञान में कोई संदेह रहे, तो वह ज्ञान नहीं कहा जा सकता। वेद शब्द प्रमाण से प्राप्त ज्ञान से हमारा विश्वास

सुदृढ़ हो जाता है। वेद स्वयं प्रमाण होने से संदेह रहित है। यदि फिर भी किसी जिज्ञासु के मन में कोई आशंका हो, तो उसके समाधान के लिये मीमांसक युक्तियों को आधार बनाना चाहिये, जिससे संदेह का निराकरण हो सके। मीमांसा में दिये गये तर्कों और युक्तियों से संशयात्मक बाधाओं को दूर करने पर वैदिक ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष हो जाता है, क्योंकि वेद की प्रामाणिकता तो स्वयं ही संदेह रहित है।

वैदिक विधिविधान ही धर्म है और वेद द्वारा निषिद्ध कर्म अधर्म। वेदसम्मत कर्मों का पालन तथा वेदनिषिद्ध का त्याग ही धर्म कहलाता है। धर्म का आचरण कर्त्तव्य होता है, जिसे निष्काम भाव से करना चाहिये। वैदिक कर्मकांड को किसी फल या पुरस्कार की आकांक्षा से करने पर वह धर्म नहीं रहता। वेद का आदेश मानकर उसका पालन करने पर वह धर्म की संज्ञा प्राप्त करता है। वैदिक, क्रियाक्रम को नित्यकर्म बनाने से वह अब तक सम्पादित अपकर्मों का नाश करता है, अंतत: उससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। इस तरह का निष्काम नित्यकर्म ज्ञान और संयम से ही किया जा सकता है। निष्काम कर्म परम पुरुषार्थ अथवा मोक्ष है, इससे स्वर्ग या कि परमानंद प्राप्त होता है।

मीमांसा के अनुसार आत्मा नित्य है। इसका नाश नहीं हो सकता। वह शरीर से भिन्न है। वह जब शरीर के संयोग में होती है तो चेतना की उत्पत्ति होती है। यह उत्पत्ति इंद्रियजन्य है। मुक्त आत्मा निरवयव या शरीररहित और चेतनारहित होती है, किन्तु वह स्वयं चैतन्यशक्ति होती है। आत्मा जब देह धारण करती है तब उसे अनेक प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति की स्थिति में से गुजरना होता है। मीमांसा की प्रभाकर शाखा के अनुसार प्रमाण पांच प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द की मीमांसक व्याख्या लगभग न्याय की व्याख्या जैसी ही है, केवल उपमान में एक अन्तर है, वह यह कि न्याय में पहले आप्त वाक्य द्वारा प्रमाण की ओर बढ़ा जाता है, जबकि मीमांसा में प्रत्यक्ष से। जब हम किसी आपात विरोधी का सामना नहीं कर सकते, तो हम अर्थापत्ति का सहारा लेते हैं। उदाहरण के लिए, अर्थापत्ति से जान जाते हैं कि वह दिन में नहीं तो रात में अवश्य भोजन करता है। इसी तरह यदि जीवित व्यक्ति घर पर अनुपस्थित मिले, तो अर्थापत्ति से यह मान लिया जाता है कि कहीं किसी दूसरी जगह उपस्थित है।

प्रमाण के रूप में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द का परिचय तो न्याय के अन्तर्गत दिया जा चुका है, इसलिये यहां अर्थापत्ति की जानकारी अपेक्षित है। उपर्युक्त उदाहरण में एक आदमी के दिन में कुछ न खाने और फिर भी उसके मोटे होते जाने में परस्पर विरोध दिखाई देता है। ऐसे दो विरोधों की उत्पत्ति तभी हो सकती है, जब वह दिन में न खाकर रात में खाता है। यदि वह दिन की तरह रात में भी खाने का निषेध करता है, तो मोटा नहीं रह सकता और विरोध को पैदा करने से बच सकता

है। अतः उस आदमी के रात में खाने की हमारी कल्पना अर्थापत्ति कहलाएगी। यह शब्द प्रमाण इसलिये नहीं है क्योंकि उस व्यक्ति विशेष को रात में भोजन करते किसी से नहीं सुना गया। यह अनुमान इसलिये नहीं है कि जहां-जहां शरीर का मोटापन हो, वहां रात्रि भोजन करना पाया जाता हो। इस तरह अर्थापत्ति प्रमाण, प्रत्यक्ष, शब्द अथवा अनुमान किसी में नहीं आता। इसलिये इसे इनसे अलग उपकरण माना गया है।

अर्थापत्ति के दो भेद हैं— दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। दृष्टार्थापत्ति वह होती है, जिसमें दृष्टार्थ अथवा देखी हुई घटना की उत्पत्ति हो, जैसे उस व्यक्ति विशेष का मोटापा दिखाई पड़ने पर यह कल्पना पैदा होती है कि वह रात में खाता है। श्रुतार्थापत्ति में सुनी हुई बात की संगति को पहचाना जाता है। उसका गांव जमुना पर है, यह सुनी हुई बात तभी समझ में आ सकती है जब गांव की संगति जमुना के किनारे से हो।

इस प्रमाण शृंखला में केवल कुमारिल भट्ट ही ऐसे हैं जिन्होंने अनुपलब्धि अथवा वस्तु के अभाव को अपरोक्ष या प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में एक प्रमाण माना है, जबकि प्रभाकर ने उसे प्रमाण नहीं माना।

पूर्वमीमांसा एक अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन है, किन्तु व्यवहार पर उसका यह जोर एक विशेष प्रकार का है। इस दार्शनिक पद्धति का केन्द्रीय विषय कर्मकांड तथा उपासना अनुष्ठानों के नियम और स्वरूप का विवेचन करना है। इस विवेचन में वह वैदिक परंपरा की मूल भावना से एक तात्विक विचलन की ओर ध्यान आकृष्ट करती है। वेदों में बलि देवताओं की तुष्टि के लिये दी जाती है, जबकि मीमांसा में देवता बलि के निमित्त हैं। यहां वे प्रकृति के स्वामी, तत्वों की गति तथा मनुष्य के जीवन में हस्तक्षेप करने वाले नहीं रह जाते, वे अब कर्मकांड की एक आवश्यक कड़ी के अलावा और कुछ नहीं हैं, क्योंकि उनके बिना बलि निरर्थक हो जायेगी। इसलिये मीमांसा में वेदों के कुछ कर्मकांड संबंधी विधानों के विस्तृत विवेचन और धर्माधर्म-चिंतन को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।

मीमांसा के सृष्टिविषयक सामान्य दृष्टिकोण में वस्तुवाद का निश्चित तत्त्व विद्यमान है अर्थात् मीमांसा विश्व को अस्तित्वमान मानता है और वह उसकी संज्ञेयता के प्रति किसी प्रकार की शंका नहीं करता, यद्यपि जैमिनी लोकायतिकों तथा सांख्यकों के भौतिकवाद का, अपितु बौद्ध सिद्धांतों का भी दृढ़ता के साथ विरोध करता है। इन दर्शनों से मीमांसा में प्रमुख भिन्नता यह है कि मीमांसा वेद को स्वतः सिद्ध प्रमाण मानती है और साथ ही यह मानकर चलती है कि श्रुति या वेद के शब्दों में एक ऐसी गूढ़ता है जिसे आसानी से नहीं समझा जा सकता, अतः वैदिक शब्दों के यथार्थ को स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है। इसके लिये प्रामाणिक ज्ञान अपेक्षित होता है। मीमांसा का लक्ष्य उन सिद्धांतों का विवेचन या उनकी मीमांसा करना है जो वेद की

अभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि में अन्तर्निहित गूढ़ार्थ को उजागर कर सके। इसके लिये मीमांसा दर्शन तर्कशास्त्र की आगमन प्रणाली को अपनाता है।

मीमांसा के दो सम्प्रदाय हैं— वस्तुवादी और बहुतत्त्ववादी। तात्विक दृष्टिकोण के आधार पर मीमांसक वस्तुवाद (Realism) तथा बहुतत्त्ववाद को मानते हैं। संसार तीन प्रकार के तत्वों से बना है—(क) शरीर या भोगायतन, जिसमें जीवात्मा पूर्व कर्मों के अनुसार भोग भोगते हैं, (ख) सुख और दुःख भोगने के साधन ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां हैं, और (ग) भोग के विषय—बाहरी वस्तुएं हैं। प्रत्यक्ष विषयों के अतिरिक्त अनेक अतीन्द्रिय तत्वों को भी माना गय है, जैसे स्वर्ग, नरक, आत्मा और वैदिक यज्ञ के देवता आदि। मीमांसा में ईश्वर का सृष्टि रचना में कोई विशेष प्रयोजन नहीं माना गया, क्योंकि सृष्टि कर्मानुसार होती है। परमाणुवाद को मानने वाले मीमांसकों के अनुसार परमाणु ईश्वर के द्वारा संचालित नहीं होते जैसा कि वैशेषिक मानते हैं।

कार्य-कारण संबंध के विषय में मीमांसक शक्तिवाद के सिद्धांत को मानते हैं। *बीज की अदृष्ट शक्ति के कारण अंकुरण होता है। बीज को भून देने से अंकुरण नहीं* होता, क्योंकि बीज की अदृप्ट शक्ति बाधित या नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अग्नि में जलाने की, शब्द में अर्थबोध और क्रिया में उत्पादकता तथा प्रकाश में भासित करने की शक्ति है। यदि कारण में यह अदृष्ट शक्ति नहीं होती, तो फिर कहीं-कहीं कारण (भुना हुआ बीज) रहने पर भी कार्य रूपी अंकुर की उत्पत्ति क्यों नहीं होती। अदृष्ट शक्ति के आधार पर 'अपूर्व' सिद्धांत की उत्पत्ति की गई, जो कर्मफल का ही एक अंश है। इसके अनुसार कर्मफल भोगने की अवस्था समय पाकर ही फलित होती है।

मीमांसा के बहुत्ववाद के अनुसार प्रत्येक जीव में आत्मा अलग-अलग होती है, अतः जितने जीव हैं, उतनी अत्माएं हैं। आत्मा नित्य और अविनाशी द्रव्य है। चैतन्य आत्मा का गुण नहीं है, वह परिस्थिति विशेष के अनुसार पैदा होता है। आत्मा के स्वरूप के बारे में मीमांसा के भट्ट संप्रदाय और प्रभाकर संप्रदाय में परस्पर विरोध है। भट्ट के अनुसार आत्मा 'अहं' का बोधविषय है, जबकि प्रभाकर के अनुसार आत्म स्वयं विषयी और विषय दोनों रूपों का एक साथ धारण नहीं कर सकता। प्रभाकर ज्ञान को त्रिपुटी अर्थात् तीन अंगोंवाला मानता है—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान। इसके विपरीत भट्ट संप्रदाय की मान्यता है कि ज्ञान स्वभावतः अपना विषय नहीं हो सकता। *इसके अनुसार ज्ञान का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, बल्कि परोक्ष रूप से ज्ञातत्व के आधार* पर अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है॥

मीमांसा के विषय में कहा जाता है कि वह न तो आध्यात्म का विवेचन कर सका है और न ही तत्त्वज्ञान का, अतः वह दर्शन होने का बजाय कर्मशास्त्र बन गया है। कर्मकांड का शास्त्र होने के कारण मीमांसा अन्य दार्शनिक प्रणालियों में से बिल्कुल

भिन्न है। डॉ. राधाकृष्णन ने तो यहां तक कह दिया है कि—"जगत के एक दार्शनिक विवरण के रूप में वह अत्यधिक अपूर्ण है।" वह परम तत्व और उसके जीव और जगत के संबंध का विवेचन नहीं करता । उसमें बंधन और मोक्ष का विचार अन्य दर्शनों से ही लिया गया है। उसमें आत्मा संबंधी विचार भी अत्यंत अविकसित हैं। वेद का स्वत: प्रामाण्यवाद का सिद्धांत भी सामान्य बुद्धि का सिद्धांत मात्र है। ज्ञान के क्षेत्र में चेतना और उसकी अन्तर्वस्तु के संबंध में उत्पन्न गंभीर दार्शनिक समस्याओं पर इसमें समाधानात्मक विचार नहीं किया गया है। कर्मकांडवाद की अति के कारण मीमांसा के बाद वैष्णव, शैव, तंत्र तथा एकेश्वरवाद की तीव्र प्रतिक्रियाएं हुईं और धर्म को कर्मकाड की जंजीरों से मुक्त करने की चेष्टा की गई।

उत्तरमीमांसा (वेदान्त)— वेदों के अंतिम भाग को 'वेदांत' कहते हैं। उत्तर मीमांसा या वेदांत एक आदर्शवादी दार्शनिक संप्रदाय है। वादरायण को आदि वेदांत का प्रणेता माना जाता है। वादरायण (जिसे व्यास भी कहा जाता है) ब्रह्मसूत्र के रचयिता थे। आर्थर कीथ ने यह सिद्ध किया है कि वादरायण दूसरी शताब्दी ई. पू. के विचारक थे। वादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र के आरंभ में 'अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा' कह कर दर्शन के एक मुख्य प्रश्न को खड़ा किया कि 'प्रकृति में गति का आदि कारण अर्थात् सृष्टि का प्राथमिक या परम तत्व क्या है ?' इसका सूत्रात्मक उत्तर दिया गया —"ब्रह्म ही परम तत्व है।" इस तरह आदि वेदांत परम तत्व अथवा ब्रह्म के प्रति *'क्या ?' रूपी जिज्ञासा है। ब्रह्मसूत्र में 560 सूक्तियां हैं जो चार अध्यायों में विभाजित* की गई हैं, जैसे समन्वय, ऋषि परंपरानुसार व्याख्या और विरोधियों की आलोचना, ब्रह्म विद्या और ब्रह्म प्राप्ति।

ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गए। इनमें भाष्यकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदांत का प्रतिपादन किया। प्रत्येक भाष्यकार यह सिद्ध करने की चेष्टा में लग गया कि उसी का भाष्य श्रुति और मूलग्रंथ ब्रह्मसूत्र का सही अर्थ प्रस्तुत करता है। हरेक भाष्यकार अपने द्वारा रचित भाष्य के माध्यम से एक अलग वेदांत संप्रदाय का प्रवर्तक बन गया । इस तरह शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क आदि के नाम पर भिन्न-भिन्न संप्रदाय चल पड़े । वेदांत के किसी संप्रदाय से केवल उस दार्शनिक का ही बोध नहीं होता जो उस सिद्धांत का प्रतिपादक रहा है, अपितु उस विशाल जनसमूह का भी बोध होता है, जो व्यवहारत: उस सिद्धांत के अनुयायी अपनी साधना के द्वारा अपने जीवन को उसी सांचे में ढालने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वेदांत का प्रभाव अभी तक लाखों लोगों के जीवन में विद्यमान दिखाई देता है। इन भाष्यों के अलावा वेदांत पर न जाने कितनी ही टीकाएं भी लिखी गईं, जो अधिकतर अब तक अप्रकाशित कही जाती हैं।

वेदांत के विकास के संबंध में डॉ. सतीशचन्द्र और डा. धीरेन्द्र मोहन दत्त ने

'भारतीय दर्शन' (218) में लिखा है— ''वेदांत के विकास में तीन युग देखने में आते हैं— (1) आदि काल में श्रुति या वेद का साहित्य, विशेषतः उपनिषद् का साहित्य पाया जाता है जो वेदान्त का मूल स्रोत कहा जा सकता है। इस युग में वेदांत के विचार विशेषत: ऋषियों की रहस्यमय अनुभूतियों तथा कवित्वमय उद्‌गारों के रूप में प्रकट हुए हैं। (2) मध्यकाल वह है जिसमे इन विचारों का संकलन, समन्वय तथा युक्तिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। इस युग का प्रधान ग्रंथ है—ब्रह्मसूत्र। (3) अंतिम काल में हम उन समस्त भाष्यों, टीकाओं तथा अन्यान्य ग्रंथों को रखते हैं जिनमें वेदांत के विचारों को तर्क की कसौटी पर रख कर विचार किया गया है अर्थात् श्रुतियों की दुहाई न देकर स्वतंत्र युक्तियों का अवलंबन लिया गया है।'' किन्तु गौड़पाद ने जिस मांडूक्य कारिका की रचना की थी, जो अब तक बची हुई है, उस पर कोई संप्रदाय नहीं बना। जिन भाष्यकारों ने वेदांत के विकास पर सबसे ज्यादा प्रभाव डाला, वे हैं शंकर और रामानुज ।

वादरायण के ब्रह्मसूत्र की मूल स्थापना यह है कि संसार किसी प्रकार भौतिक शक्तियों से उद्‌भूत नहीं है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और जो कुछ भी सत्य अथवा वास्तविक प्रतीत होता है, अपने सभी रूपों में उसी से उदित होता है। वादरायण का दृष्टिकोण आध्यात्मवादी या प्रत्ययवादी था, जो तत्कालीन लोकायत और सांख्य द्वारा प्रतिपादित भौतिकवादी चिंतन के विरुद्ध तीक्ष्णता के साथ प्रस्तुत किया गया था ।

वस्तुत: लोकायत और सांख्य की भौतिकता प्रधान दर्शन प्रणालियों के अलावा वैदिक कर्मकांड का तीव्र विरोध बौद्ध और जैन विचारकों के ग्रंथों में इतने तार्किक प्रहारों से किया गया कि उपनिषदों का आध्यात्मिक प्रभाव क्षीण होता दिखाई देने लगा । ऐसी स्थिति में कर्मकांड और वैदिक आदर्शवाद या आध्यात्मवाद की रक्षा तथा उसकी पुन:प्रतिष्ठा के लिए वादरायण का वेदांती संप्रदाय कमर कस कर सामने आया। यह ब्राह्मण धर्म को बचाने की चेष्टा थी।

यहां रेखांकित करने की बात है कि भौतिकवाद और आध्यात्मवाद का द्वन्द्व और लोकमानस को प्रभावित करने की प्रतिस्पर्द्धा या वैचारिक संघर्ष यही वह द्वन्द्व है जो चिंतन के आदिकाल से लेकर अब तक अनवरत गति से चलता आ रहा है और न केवल जनमानस को, अपितु लौकिक व्यवहार को भी प्रभावित करता रहता है। किन्तु पुराणपंथी हमेशा इससे आंख मूंद लेते हैं अथवा ढीठ बन कर इसे नकारते जाते हैं।

गौड़पाद ने 'मांडूक्यकारिका' में ज्ञान मीमांसा के रूप में आधारभूत प्रस्थापना की थी, जिसके अनुसार अपनी जागृत अवस्था में व्यक्ति जिस जगत का अनुभव करता है वह उतना ही अवास्तविक और भ्रामक है जितना निद्रा के समय का जगत। इसी मीमांसक स्थापना के आधार पर वेदांती संप्रदायों ने वेदांत को आगे बढ़ाया। गौड़पाद

की इस मूल स्थापना का समुचित विकास आदि शंकराचार्य या शंकर (8वीं सदी) ने अद्वैत वेदांत सिद्धांत के रूप में किया।

शंकर की मान्यता है कि प्रकृति व समाज के समस्त व्यवहार का आधार एक परम अर्थात् ब्रह्म (अभौतिक सत्ता) है। ब्रह्म नित्य, अनंत एवं निराकार है। दिक् व काल, कारण व परिणाम, गति व विराम, गुण एवं मात्रा में से किसी का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। ये विकल्प प्रकृति पदार्थ के व्यापार-जगत के लक्षण हैं, सत्य नहीं। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, बाकी सब ब्रह्म का आभास है, एक स्वप्न है—वस्तुसत्य नहीं। ब्रह्म का स्वप्न स्वयं ब्रह्म में ही है, जैसे व्यक्ति की चेतना में उसके स्वप्न रहते हैं। ब्रह्म स्वयं आभासित है। अन्य कोई कारक है ही नहीं। एकोहं द्वितीयो नास्ति—स्वयं ब्रह्म अस्तित्व हूं। किसी अन्य का अस्तित्व है ही नहीं। जब किसी अन्य का अस्तित्व ही नहीं है तो कैसा जगत, कैसी प्रकृति, कौन ज्ञाता, कैसा ज्ञान, कौनसा कैसा ज्ञेय। ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता जब है ही नहीं, तो कौनसा प्रश्न खड़ा होता है तर्क करने का। विश्व की अनुभूति ही जब स्वप्न मात्र है, धोखा है, भ्रम है, तो उस पर वादविवाद करना बेकार है, अर्थहीन है। ब्रह्म स्वयं में पूर्ण है, वह अंश में नहीं सर्वांश में इकाई है, अविभाज्य संपूर्णता है।

शंकर के अद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्म और जगत के बीच के संबंध को वस्तु व उसके गुणों या समुद्र व उसकी लहरों के बीच का संबंध मानना चाहिए न कि पूर्ण व उसके अंगों के बीच का संबंध। हमारा जगत ब्रह्म की निद्रा है जो कभी माया और कभी पदार्थ या प्रकृति कहलाता है। माया न सत्य है और न ही मिथ्या, यह आभास है जैसे लहरें, बुलबुले व झाग, जो हमारी दृष्टि से ब्रह्म को छिपाता है। समुद्र में पानी होता है और हम उस पानी को एक व अभिन्न तथा समान समझते हैं, जबकि वास्तव में पानी के नाना रूप हैं। रूप की इस भिन्नता के कारण ही समुद्र से लहरें, बुलबुले व झाग उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म व जगत एक है, जैसे समुद्र एक है, हालांकि वह लहरों, झागों व बुलबुलों का नाना रूप धारण करता है। इस प्रकार हमारा जगत या माया, यद्यपि परम से निर्मित है, लेकिन स्वयं में परम नहीं है और क्योंकि स्वयं इसका कोई तात्विक आधार नहीं है, यह सत्य या अस्तित्वमान पृथकत्व नहीं हो सकता।

संज्ञान के दो विषयों—जगत व ब्रह्म के बारे में शंकर का विचार है कि जगत का संज्ञान अविद्या के कारण संभव होता है। यह दृष्टिगोचर व तार्किक संज्ञान का एक रूप है, जो सापेक्ष अनुभवमूलक सत्य अर्थात् अपरा विद्या को जन्म देता है। अविद्या वस्तुओं के तार्किक आधार को प्रकट नहीं करती, इस अर्थ में वह ज्ञान का अभाव अज्ञान या मिथ्यात्व है। जैसे हम दृष्टि भ्रम के कारण एक रस्सी को सर्प मान लेते हैं, उसी प्रकार अविद्या से ब्रह्म को जगत समझ लेते हैं। अविद्या या क्षुद्र बुद्धिविद्या या सद्बुद्धि के विपरीत होती है, जो सीधे ही परम तत्व या ब्रह्म का संज्ञान करती

है एवं व्यक्ति को परम सत्य या परा विद्या प्रदान करती है। परा विद्या आने पर अविद्या लुप्त हो जाती है। परा विद्या को ब्रह्मविद्या या ब्रह्मज्ञान भी कहा जाता है।

जब भारत में सर्वव्यापी सामंतवादी अर्थव्यवस्था का विकास हो रहा था, तब एकछत्र शासक वर्ग की निरंकुशता के कारण एक अभूतपूर्व आदर्शवाद ने अपनी एक अलग ही रहस्यवादी अभिव्यंजना का सहारा लिया। शंकर पर भी इस ऐतिहासिक परिवेश का प्रचुर प्रभाव था। वे अपने समय के सर्वाधिक प्रतिभावान विचारक थे। अपनी बत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने वेदान्त को एक सर्वोच्च शिखर पर पहुंचा कर सब विरोधियों को परास्त कर दिया। साथ ही देश के प्रमुख स्थानों पर चार विचार मठ स्थापित किए, जो मैसूर में शृंगेरीमठ, उड़ीसा में पुरीमठ, काठियावाड़ में द्वारकामठ और हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों पर बद्रीनाथमठ नाम से विख्यात हुए। इनका उद्देश्य वेदान्त का प्रचार करना था। इनमें ब्रह्मज्ञान प्रदान करने की अपेक्षा की गई थी और शंकर के अद्वैत वेदांत में ब्रह्म ज्ञान या परा विद्या ही मोक्ष है।

शंकर के चार सदियों बाद रामानुज (ग्यारहवीं सदी) ने वेदान्त को एक और नया आयाम दिया। शंकर के अद्वैत की आधारभूत प्रस्थापनाओं को स्वीकार करने के साथ इसमें 'विशिष्ट' का योग करके उसे वेदान्त का एक और प्रकार पैदा कर दिया—'विशिष्टाद्वैत'। शंकर का ब्रह्म एक समजातीय अवैयक्तिक परमतत्व है और जगत मिथ्या, वहीं रामानुज के लिए ब्रह्म एक व्यक्ति है—स्वयं में निहित भौतिक जगत की संपूर्ण विभिन्नता के साथ, जो ब्रह्म की अभिव्यक्ति होने के कारण सत्य है, मिथ्या नहीं। ब्रह्म द्रव्य है जबकि जगत एक विशेषण। रामानुज ने, वस्तुओं (पदार्थ या व्यापार) को जगत की अभिव्यक्ति एवं उनकी समाप्ति को अनभिव्यक्ति के रूप में देखा। नष्ट हो जाने पर, चेतना रहित पदार्थ एवं स्वयं चेतना दोनों ही दैवी गुणों के अवशेष के साथ सूक्ष्म पिंडों का रूप ले लेते हैं।

रामानुज के अनुसार चेतना व पदार्थ में मुख्य अंतर यह है कि जहां चेतना अपनी स्वयं की सत्ता के आधार पर स्वयं को प्रकाशित करने में सक्षम है अर्थात् यह कर्त्ता और कर्म दोनों हो सकती है। जहां तक पदार्थ का प्रश्न है, वह स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता, यद्यपि यह चेतना का विषय है।

यद्यपि रामानुज 'वास्तविक सत्ता' और 'अवास्तविक सत्ता' अथवा 'आभास' की अवधारणाओं का विरोध नहीं करते, फिर भी वे शंकर के समान ज्ञान या विद्या तथा अज्ञान या अविद्या के विभाजन को स्वीकार नहीं करते। वे इस बात को गलत करार देते हैं कि सीमित व वास्तविक सत्ता सिर्फ गुणविहीन सत्ता (निर्विशेष वस्तु) है। गुणविहीन सत्ता अगम्य है तथा संज्ञान के किसी भी रूप द्वारा इसकी सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती।

अपने पक्ष में रामानुज के तर्क हैं—

(1) समस्त वस्तुओं के जिनका कि अस्तित्व संज्ञान के विभिन्न प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है, गुण होते हैं। परिणामस्वरूप बिना गुणों के किसी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

(2) गुण की अवधारणा सदैव उपस्थित रहती है, यहां तक कि अंतर्दृष्टि में भी—आत्मचेतना एवं अंतर्दृष्टि दोनों के विषय में।

(3) प्रत्यक्ष ज्ञान के संबंध में, सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान दोनों में अपने प्रत्यक्ष विषय हेतु विशिष्ट गुणों से लक्षित वस्तुएं हैं, केवल इस अंतर के साथ कि निर्विकिल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान कुछ गुणों से वंचित वस्तु को जन्म देता है।

वेदांत में रामानुज का महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने शंकर की अवास्तविक सत्ता व मिथ्या ज्ञान के सिद्धांत की समुचित समीक्षा की। प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में, जिसे शंकर ने सविकल्पक और निर्विकल्पक में विभक्त किया—रामानुज ने अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया। ब्रह्म के अमूर्तकरण की अवधारणा को मूर्तकरण में देखा, क्योंकि रामानुज का विश्वास था कि विशाल जनमानस के लिए अमूर्तकरण की अवधारणा अत्यंत अगम्य है।

रामानुज की दृढ़ मान्यता थी कि मनुष्य के दुख का कारण इसमें नहीं है कि यह अभासी जगत इससे ब्रह्म को छिपाता है एवं इस 'अवास्तविक जगत' को संज्ञान करने में हम 'वास्तविक ज्ञान' प्राप्त नहीं करते, बल्कि इसमें है कि ब्रह्म ईश्वर है लेकिन हम उसके प्रति अधिक प्रेम व भक्ति नहीं दर्शाते। भक्ति को आधार मान लेने पर गुण से निरपेक्ष ईश्वर भी गम्य होता है।

शंकर का अद्वैत और रामानुज का विशिष्टाद्वैत वेदांत, दर्शन के दो भिन्न संप्रदाय हैं। अद्वैत का शारीरिक भाष्य और विशिष्टाद्वैत का श्री भाष्य क्रमशः अपने-अपने संप्रदाय की प्रतिनिधि रचना है। शंकर के अद्वैत में ब्रह्म ही एकमात्र परमसत्ता है जबकि रामानुज के अद्वैत में द्वैत विशिष्ट रूप से अन्तर्निहित है, इसीलिए वह विशिष्टाद्वैत है। यहां अद्वैत सगुण है। शंकर का ब्रह्म एकमात्र सत्य है, ईश्वर कोई सत्य नहीं, अतः वह ब्रह्म नहीं हो सकता। विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म और सगुण ईश्वर एक ही है, अतः ईश्वर मिथ्या नहीं। ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता के रूप में सगुण ईश्वर है, क्योंकि निर्गुण, निर्विकल्प, निराकार या निरपेक्ष शून्यवत ब्रह्म सगुण सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकता।

शंकर ने आत्मा के अलग अस्तित्व को नकार दिया। 'तत्त्वमसि' का ब्रह्म और आत्मा में अद्वैतता है, यहां द्वैत का पूर्ण निषेध किया गया है। आत्मा को ब्रह्म का अंश या उससे अलग समझना भ्रम और अविद्या माना गया है, जबकि रामानुज ब्रह्म और आत्मा में अद्वैत मानते हुए भी उसको विशिष्टता के साथ जोड़कर विशिष्टाद्वैत मानते हैं। यहां आत्मा को ब्रह्म का अंश माना गया है, किन्तु एक से एक के अंश को भिन्न

नहीं माना जा सकता, अत: ब्रह्म और उसके अंश में द्वैतता का आरोपण नहीं किया जा सकता।

मोक्ष के विषय में भी शंकर और रामानुज में भिन्नता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म से आत्मा को अलग समझना अविद्या है। इस अविद्या से छुटकारा पाने का उपाय ब्रह्मविद्या है और ब्रह्मविद्या आत्मा और ब्रह्म के तादात्मय की अनुभूति है, जो ब्रह्मानंद है। यह ब्रह्मानंद ही मोक्ष है। दूसरी ओर रामानुज आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य को स्वीकार नहीं करते। रामानुज के अनुसार मोक्ष चार प्रकार का होता है—(1) सालोक्य अर्थात् ईश्वर के लोक में रहना, (2) सायुज्य अर्थात् ईश्वर से जुड़ जाना, (3) सामीप्य—ईश्वर के समीप रहना, और (4) सान्निध्य अर्थात् ईश्वर के सान्निध्य में रहना। इन चारों अवस्थाओं में आत्मा ब्रह्म में तल्लीन नहीं होती। अत: भक्ति ही मुक्तिमार्ग है।

जगत को शंकर माया और मिथ्या मानते हैं, उसका ब्रह्म से कोई सरोकार नहीं, जबकि रामानुज जगत को ईश्वर की लीला और उसका अंश मानते हैं। चित और अचित दोनों तत्व ब्रह्म के अन्तर्निहित प्रकार हैं, अत: जगत मिथ्या नहीं, बल्कि सत् है, क्योंकि ईश्वर की कोई रचना असत् नहीं हो सकती।

तेरहवीं सदी में मध्वाचार्य ने उत्तर मीमांसा के द्वैत वेदांत का प्रतिपादन किया। द्वैत, शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत से एक भिन्न प्रणाली है। मध्व ने सैंतीस पुस्तकें लिखीं, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर उनके भाष्य तथा 'अनुव्याख्यान' नामक पुस्तक है। उनके शिष्य जयतीर्थ और पद्मनाथतीर्थ ने मध्व की रचनाओं पर सुन्दर टीकाएं लिखीं।

द्वैत के अनुसार जगत यथार्थ और जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेद है। जीवात्मा, ब्रह्म और जगत तीनों शाश्वत यथार्थ हैं। तीनों का अपना अलग-अलग स्वतंत्र अस्तित्व है। शंकर का खंडन करते हुए मध्व कहते हैं कि यदि ब्रह्म और आत्मा एक ही है, तो किसी आत्मा और ब्रह्म के बीच संबंध के ज्ञान का प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है, क्योंकि तब ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहेगा। यदि ज्ञेय और ज्ञाता ही नहीं है, तो ज्ञान किसका और क्यों होगा। अत: शंकर का अद्वैत सिद्धांत आत्मविरोधी होने के कारण निरर्थक सिद्ध हो जायेगा और उनकी ब्रह्मविद्या ब्रह्मानंद प्राप्त करने वाला ही कोई नहीं होगा, अत: उनकी मोक्ष की धारणा भी हवाई ही रह जायेगी। यदि आत्मा को ज्ञानकर्त्ता माना जाता है तो पहले यह मानना पड़ेगा कि जीवात्मा अज्ञानी है, जिसे ज्ञान प्राप्त करना है और शंकर के अनुसार जीवात्मा और ब्रह्म में एकत्व है तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि ब्रह्म भी अज्ञानी है, परिमित और दुखी है जिसे मुक्त होना है। मध्व के अनुसार ब्रह्म, चेतन और अचेतन यथार्थ हैं, परस्पर भिन्न हैं। जगत काल और आकाश में स्थित हैं।

द्वैत के अनुसार ज्ञान के तीन स्रोत हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रत्यक्ष इंद्रियानुभव होने के कारण बाहरी यथार्थ का सही ज्ञान कराता है, बशर्ते इंद्रियां और मस्तिष्क दोष रहित हों। सांख्य की तरह मध्व सृष्टि की रचना में प्रकृति को प्रधानता देते हैं जो सत्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों की स्रोत है। किन्तु प्रकृति ब्रह्म द्वारा संचालित होती है और यह ब्रह्म विष्णुरूप में प्रतिष्ठित है। इसीलिए मध्व के लिए विष्णु ही सृष्टि का प्रथम कारण और परमात्मा है, जो जगत को यथार्थ बनाता है। जड़ और चेतन सब उसी के अधीन हैं। वह सगुण, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान, अपरिमित, मोक्षदाता है, अतः उसकी भक्ति ही परम कर्त्तव्य है, जो परमानंद की स्थिति तक ले जाकर मुक्ति प्रदान करती है। भक्तिमार्ग को ग्रहण करने में ऊंच-नीच जातियों का भेदभाव समाप्त हो जाता है। वर्णव्यस्था के बंधन टूट जाते हैं। यहां शूद्र और अछूत भी वेद पढ़ सकते हैं।

ग्यारहवीं सदी के एक और प्रसिद्ध दार्शनिक थे—निम्बार्क। उन्होंने भी ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखा। वे द्वैताद्वैत प्रणाली के प्रणेता थे। निम्बार्क के तीन सिद्धांत हैं—ब्रह्म, चित्, और अचित्। चित् जगत भी तीन प्रकार का है—अपने तीन गुणों सहित प्रकृति, अप्रकृत—जो प्रकृति से उत्पन्न नहीं है और काल। ये तीनों यथार्थ और शाश्वत हैं।

निम्बार्क के अनुसार ब्रह्मांड की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है, जो सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से युक्त है। यहां वह सांख्य से सहमत है, किन्तु वह सांख्य से वहां भिन्न है, जहां प्रकृति को ब्रह्म पर निर्भर मानते हैं, जबकि सांख्य प्रकृति को आत्मनिर्भर मानता है। निम्बार्क के अनुसार चित् मानवात्मा का सारतत्व है। वह अभौतिक है और शरीर से भिन्न है। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन—ये ग्यारह आत्मा के उपकरण है, जो देखने, काम करने और आनंदादि का अनुभव करने के निमित्त हैं। संसार में जितनी भी जीवात्माएं हैं, वे सभी शाश्वत हैं।

ब्रह्म सगुण और सर्वोच्च यथार्थ है। वह सत् चित आनंद (सच्चिदानंद) है, वह सुंदरता, करुणा आदि सभी गुणों से परिपूर्ण है। वही सारे भौतिक और चेतनिक जगत का कारण है। वह अवैयक्तिक नहीं वरन् वैयक्तिक ईश्वर है। वह राधा के चिर प्रेमी कृष्ण के रूप में साकार है।

संसार की रचना को निम्बार्क ने ईश्वरीय लीला माना है। इस जगत में हम जो कुछ भी देख रहे हैं, वह सब ईश्वर की लीला ही है मनुष्य को चाहिए कि सृष्टि के अन्तर्निहित उद्देश्य को समझे और परमानंद प्राप्त करने के लिए भक्ति मार्ग अपनाए। सगुण ईश्वर का साक्षात्कार ही मोक्ष है। निम्बार्क के अनुसार भक्ति केवल ईश्वर का ध्यान और उसका मनन करना मात्र ही नहीं है, बल्कि भक्त द्वारा दोषरहित, पवित्र और स्वार्थरहित आचार-व्यावहार धारण करते हुए जीवन जीना और भगवत्प्रेम में

तल्लीन होकर भावमग्न होना सच्ची भक्ति है।

वेदांत का एक अन्य संप्रदाय बल्लभ संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। बल्लभाचार्य इसके संस्थापक थे। पंद्रहवीं सदी उनका कार्यकाल माना जाता है, बल्लभ के अनुसार आत्मा और पदार्थ दोनों ही ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति हैं। ब्रह्म सगुण है। वह आत्मा और पदार्थ के माध्यम से अपने त्रिगुणात्मक सारतत्व--सत्, चित और आनंद को प्रकट करता है। ईश्वर स्वयं में अपरिवर्तित रहता है। यह ब्रह्मांड ब्रह्म से उसी तरह व्यक्त हुआ है, जिस तरह अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं। बल्लभाचार्य की मान्यता है कि जगत और संसार में एक महत्वपूर्ण भेद है । जगत ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति है, किन्तु यह संसार, जो जन्म और मरण का चक्र है, वह अज्ञान का कारण है। अज्ञान को मिटाने से संसार भी तिरोहित हो जाता है और तब केवल जगत का अस्तित्व बचा रहता है, जो ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति है। बल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धांत को वेदांत की एक 'माया से अविकृत' प्रणाली कहा जाता है अर्थात् शुद्धाद्वैत वेदान्त।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य का द्वैत, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत और बल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत जैसी वेदांत की प्रणालियां ब्रह्म को ही इस जगत का अंतिम कारण मानती हैं। ये सभी प्रत्ययवादी चिंतन प्रणालियां हैं, फिर भी ये शंकर की उस अद्वैतवादी अवधारण से भिन्न हैं, जिसे बौद्ध से प्रभावित शून्यवाद भी कहा जाता है और शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध'। वस्तुतः वेदांत के रामानुज, मध्व, निम्बार्क और बल्लभ संप्रदायों की दार्शनिक धारणाओं का उदय शंकर के अद्वैत का विरोध करने के लिए ही हुआ था।

पूर्व मीमांसा (मीमांसा) और उत्तर मीमांसा (वेदांत) के संपूर्ण विकास की कालावधि को लगभग डेढ़ सहस्राब्दि (पंद्रह सौ साल) माना जा सकता है। इस समय-सीमा में उत्पन्न और विकसित राजनीतिक, आर्थिक (विशेषतः कृषिक, शिल्पिक और विनिमयिक), सामाजिक, सांस्कृतिक ओर साहित्यिक परिस्थितियों के उतार-चढ़ावों, बदलावों व संघर्षों ने भारतीय चिंतन को गहराई से प्रभावित किया है। देशी राजाओं, सामंतों और व्यापारियों और विदेशी आक्रामकों द्वारा उत्पीड़ित और वर्णव्यवस्था की क्रूरताओं द्वारा प्रताड़ित, दलित-दमित जनता, जिसमें किसान, मजदूर, शिल्पी, कर्मकार, शूद्र, वेश्या, अछूत आदि सम्मिलित थे—असहाय, पराजित, निराश, हताश, मंत्रतंत्रादि अंधविश्वासों से ग्रस्त हो चुकी थी और उसमें जीवित रहने की इच्छा मरने लगी थी। उसे सम्भालने वाला कोई नहीं था, सहारा किसी का नहीं था। विकल्प बचा था—हताशा से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या, नशे में डूबे रहना, अदृष्ट लोक में विचरण या भूलभुलैया का सहारा लेकर जीने के दिन काटना आदि। ऐसे में स्वाभाविक था कि जैमिनी, बादरायण, शंकर और रामानुज आदि

के मीमांसकीय चिंतन का प्रादुर्भाव हो। निश्चय ही इसने ऐसे भक्ति आन्दोलन (निर्गुण-सगुण समन्वित) या तत्कालीन जन-आन्दोलन को जन्म दिया जिसने राजाशाही-सामंतशाही के ऐश्वर्यमय, आतंकपूर्ण और दमनकारी तामझाम को ललकारा, बिना बिके मुकाबला किया, पराजितों को जिजीविषा दी और तंत्रमंत्रजन्य अंधविश्वास के, ऊँच-नीच के भेदभाव के जाल-जंजाल को तोड़ने का द्वन्द्व पैदा किया।

दर्शन के साथ भक्ति के मेल के उज्ज्वल पक्ष को लेकर एक अलग से रचना की जा सकती है, जिसके लिए इतिहास के विस्तृत कलेवर की आवश्यकता होती है।

• •

समन्वयन

नीति की मीमांसा को दर्शन की परिधि में स्वीकार करने पर ही भगवद्गीता को एक दार्शनिक काव्य माना जा सकता है। यह ज्ञान, भक्ति और कर्म का त्रिवेणी संगम भी कहा जा सकता है। काव्य के रूप में भी यह एक भव्यतर रचना है।

उपनिषदिक परंपरा के अनुसार गीता जिज्ञासापूर्ण संवाद का निर्वाह करती है और तर्कपूर्ण समाधान से अनेक प्रणालियों का संयोजन कर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। एक हजार साल से इसकी लोकप्रियता अब तक वैसी ही बनी हुई। इसकी पृष्ठभूमि में केन्द्रीय कारण है अमूर्त चिंतन से व्यक्त को प्राप्त करने का सहज किन्तु काव्यात्मक प्रयास।

ईसा पूर्व दूसरी सदी में रचित गीता महाभारत महाकाव्य का एक महत्वपूर्ण भाग है। अलग कृति के रूप में भी यह अपने आप में एक परिपूर्ण व्यक्तित्व धारण किए है। इसमें अठारह अध्याय हैं और लगभग अर्द्धसहस्राब्दि तक इसमें फेरबदल किए जाते रहे हैं। अनेक परिस्थितियों में यह प्रेरणास्पद रही है और विशेषतः भारत के स्वाधीनता संग्राम के कई बड़े नेताओं ने न केवल अपने भाषणों में इसका उपयोग किया है, अपितु अपनी-अपनी टीकाएं भी लिखी हैं। इन नेताओं में विशेषकर बाल गंगाधर तिलक और मोहनदास कर्मचन्द गांधी का उल्लेख किया जा सकता है। इस पर देशी-विदेशी अनेकानेक भाषाओं में इतने अधिक भाष्य लिखे जा चुके हैं कि *जिसकी मुकम्मल सूची बना पाना दुष्कर कार्य है। यही हाल इसके अनुवादों और* और संस्करणों का है। इसके संस्करणों की बिक्री से प्राप्त संपत्तियों के अंबार का भी अंदाज नहीं लगाया जा सकता। धार्मिक क्षेत्र में यह बाइबिल और कुरान के समकक्ष ठहरती है तो प्रेरक के रूप में आधुनिक कालीन मार्क्स एंगेल्स के कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र की तरह।

कबीलाई समाज दीर्घकाल से रक्त संबंधों से बंधा हुआ था। उस समय के संस्कार अर्जुन में भी दृढ़ीभूत थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध मैदान में जाते ही वह विचलित

होकर कह उठता है—'' ओह ! यहाँ तो मेरे आचार्य, मामा, दादा, चाचा, भाई, भतीजे, पोते, दोस्त, श्वसुर और शुभचिंतक खड़े हैं ! क्या इन पर बाण चलाऊं और वह भी जमीन-जायदाद के लिए ? नहीं, यह तो पाप होगा न ?'' इस पर कृष्ण ने एक लंबा तर्कपूर्ण दार्शनिक उपदेश दिया । यह उपदेश ही गीता का सार है। इसी उपदेश को विचारकों ने नवीन ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की बढ़ती हुई शक्ति का प्रतीक बताया। इस पर 'भारतीय चिंतन परंपरा' (197) के व्याख्याकार के. दामोदरन ने कहा—

'' चातुर्वर्ण्य व्यवस्था वर्गहीन, आदिम कबीली समाज से आगे बढ़ा हुआ कदम था। बर्बरता से सभ्यता की ओर समाज को आगे बढ़ाने वाली ऐतिहासिक आकांक्षा को ही गीता ने, स्वयं परमात्मा द्वारा प्रणीत बता कर, उसे आदर्शपूर्ण बना दिया। यह बढ़ा-चढ़ा कर दावा कर संभवतः आवश्यक भी था। कारण यह कि आदिम वर्गहीन समाज से वर्गों वाले समाज में रूपांतरण तथा वर्णव्यस्था के सुदृढ़ीकरण को शक्तिशाली प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा था। यह प्रतिरोध दार्शनिक स्तर पर भी हो रहा था।''

लेकिन गीता मे दार्शनिक प्रतिरोध की प्रबलता नहीं दिखाई देती। कुछ विचारक तो गीता को दार्शनिक रचना की श्रेणी में रखना ही उचित नहीं समझते। इसका कारण बताया जाता है कि गीता में तत्वमीमांसा की सूक्ष्मता और गहनता का अभाव है। इसमें किसी अपेक्षित विवेचन को व्याख्यायित भी नहीं किया गया है। इसमें केवल आधारभूत सिद्धांतों की चर्चा भर की गई है और साथ ही उन्हें मनुष्य की सहज इच्छाओं के साथ जोड़ दिया गया है। इसमें किसी मौलिक प्रणाली की उद्भावना नहीं है, बल्कि एक नैतिक आशंका का समाधान करने के लिए मूर्त्त परिस्थिति का चयन किया गया है । इसकी नाटकीयता दार्शनिक चिंतन की गहनता को कम भी करती दिखाई दे रही है। गहनता की यह कमी ही इसकी लोकप्रियता के कारणों में से एक कही जा सकती है। यह उपदेशक या आदेशक धर्मग्रन्थ अधिक है, तात्विक विश्लेपक कम। यह बहुत बढ़िया काव्य अधिक है बजाय दार्शनिक प्रतिपादन के। यह प्रचलित प्रणालियों को स्पर्शमात्र करके संतुष्ट है। उसका धुंधलापन चेतनिक परिवेश पर आवरण का काम करता है। फिर भी उसका लौकिक उपदेश इतना स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है कि इसकी उपादेयता को कम करके नहीं आंका जा सकता। जो समायोजन गीता में है, इससे उसे सांख्य, योग और वेदांत दर्शनों की कुंजी कहना अधिक उपयुक्त होगा।

तो क्या गीता केवल कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का समेकन मात्र है ? क्या वह केवल नीतिप्रधान व्यावहारिक पक्ष का काव्य मात्र है ? यदि ऐसा है तो उसे दर्शन की विशेष प्रणालियों के साथ सम्मिलित करने का औचित्य क्या है ? इस प्रकार के कई और प्रश्न उठाए जाते हैं। इनकी पूर्णरूपेण उपेक्षा करना नितांत अनुचित होगा।

गीता मीमांसा का काव्यरूप है, जिसका तात्विक आधार सांख्य और योग है और जिसकी चिंतनाभिव्यक्ति उपनिषदिक वेदांत और विशेषकर उत्तर-मीमांसा। गीता में सांख्य और योग की चर्चा करते हुए रिचार्ड गार्वे ने लिखा है—

"सांख्य और योग की शिक्षाएं भगवद्गीता के दार्शनिक विचारों की लगभग पूर्ण आधारशिला हैं। उनकी तुलना में वेदांत का स्थान द्वितीय है। सांख्य और योग दर्शनों का प्रायः नाम लेकर उल्लेख किया गया है, जबकि वेदांत का उल्लेख एक बार है (15-15 वेदांत कृ द्वेद विदेव चाहम) वह भी औपनिषदिक अर्थो में। तदनुसार जब हम दार्शनिक प्रणालियों की गीता में—जिस रूप में वह हमें प्राप्त है—भूमिका पर विचार करते है, सांख्य योग तथा वेदांत के बीच उस तीव्र अन्तर्विरोध पर सोचते हैं जो पुराने और नये के सूक्ष्म विवेचन से ही दूर किया जा सकता है, तो हमें पता चलता है कि भगवद्गीता में वेदांत के जो तत्व हैं वे मूल कृति के सिद्ध नहीं होते। इस संबंध में गीता का हम चाहे धार्मिक दृष्टि से अन्वेषण करें, चाहे दार्शनिक दृष्टि से, हम एक ही परिणाम पर पहुंचते हैं।"

— ('भारतीय चिंतन परंपरा'-201 से साभार पुनरुद्धृत)

फिर भी गीता के आधुनिक संस्करणों के दसवें अध्याय का पुनरवलोकन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंच सकेंगे कि यह मुख्य रूप से उत्तरमीमांसा का ही पृष्ठपोषण है। कृष्ण 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' की अवधारणा में स्वयं को प्रतिष्ठापित करते हैं। यह वेदांत की, प्रधानतः शंकर-रामानुज के अद्वैत-विशिष्टाद्वैत की ही मैलिक अवधारणा है। 'अहं ब्रह्मास्मि' का खुलासा दसवें अध्याय के दूसरे श्लोक से इस प्रकार होता है —"अहं आदिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः" तथा तीसरे श्लोक से इस प्रकार "यो माम जन्मादि च वेत्ति लोक महेश्वरम्" और इस ज्ञान को धारण करने वाले ज्ञानी को मोक्ष का अधिकारी माना गया है। यह ज्ञान वेदांत ही है और ज्ञेय विशिष्ट स्वयं कृष्ण (विशिष्टाद्वैत) हैं जिनमें समाये हुए हैं—संकल्प, महाभूत, तत्वज्ञान, इंद्रियानुभव, भय-अभय, भाव-अभाव व संपूर्ण मानव ("मैं स्वयं जगत का कारण हूं, मैं अनादि और अनंत हूं। अदिति के बारह पुत्रों में मैं ही विष्णु, मैं ही सूर्य, चन्द्रमा, वायु, सोम, इन्द्र; इंद्रियों में मन, भूतप्राणियों में चेतना, रुद्रों में शंकर ... वृक्षों में पीपल, ऋषियों में नारद, गंधर्वो में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि" ... आदि।

यहां उल्लेखनीय यह है कि कृष्ण ने दार्शनिकों में से केवल कपिल से ही अपना अत्मीकरण किया है। इससे 'सांख्य' जैसी भौतिकवादी दर्शन प्रणाली में उनकी पक्षधरता ही प्रमाणित होती है। 'सांख्य' जैसी अनीश्वरवादी पद्धति को मान्य करने का कारण सांख्य का तत्वज्ञान संबंधी प्रमाणसिद्ध विश्लेषण ही हो सकता है, अन्यथा कृष्ण अपना आत्मीकरण वृहस्पति, बुद्ध, महावीर अथवा अन्य किसी दार्शनिक से

कर सकते थे, जो कपिल के पूर्ववर्ती विचारक रहे हैं। यहां एम. हिरियन्ना की इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ''कुछ विद्वानों ने गीता में एक तीसरी विचारधारा 'सांख्य' का भी प्रभाव देखा है।'' यहां सांख्य का 'तीसरी विचारधारा' के रूप में वर्गीकरण करना अतार्किक लगता है। हिरियन्ना ने तो सांख्य के इतिहास को सन् 1932 की अवधि तक 'तिमिराच्छन्न' ही पाया है । अलबत्ता वे महाभारत में सांख्य की आंशिक सादृश्यता की बात के लिए अवश्य हमारा ध्यान आकृष्ट करते दिखाई पड़ते हैं।

साफ तौर पर यह कहा जा सकता है कि गीता ने किसी प्रकार का दार्शनिक नवाचार नहीं दिया। उसने अपने समय के परस्पर विरोधी विचारों का भी उपयोग किया है। उसमें वेदांत का अद्वैत है, तो विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत भी। उसमें इनके साथ कपिल का सांख्य भी है तो पतंजलि का योग भी किन्तु इन दार्शनिक पद्धतियों को गीताकार ने अपनी उद्देश्यपूर्ति हेतु अपनी ही अर्थयोजना में ढाल दिया है। यहां कृष्ण का प्रमुख लक्ष्य अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित करना है, न कि दर्शन विशेष की व्याख्या करके उसको समझाना। गीताकार ने अपनी कल्पनानुसार यहाँ दार्शनिक जिज्ञासु के रूप में अर्जुन की जिज्ञासाओं या शंकाओं-अशंकाओं का समाधान करने वाले प्रेरक के रूप में कृष्ण को मैदान में ला खड़ा कर दिया है। गीता की काव्याभिव्यक्ति में यह संभव हो सका है, वरन् युद्धक्षेत्र में, जहाँ आमने-सामने लड़ने को तत्पर सेनाएं खड़ी हों—इस प्रकार का दर्शन-दिग्दर्शन संभव नहीं हो सकता।

इस सबके होते हुए भी यह रेखांकित करने योग्य है कि गीता में सांख्य और योग को आधारभूत स्थान दिया गया है। कृष्ण द्वारा सांख्य के प्रणेता कपिल को श्रेष्ठतम प्रमाणसिद्ध मुनि मानते हुए उसे आत्मीयता प्रदान करना अपने आप में एक महत्वपूर्ण स्थिति तो है ही, साथ ही संपूर्ण दूसरे अध्याय को सांख्ययोगमय बना देना ही गीताकार पर सांख्यिक प्रभाव को स्पष्ट तथा परिलक्षित करता है। अध्याय 13 के 19वें श्लोक में कृष्ण कहते हैं—''प्रकृति और पुरुष दोनों को ही 'अनादि' जान' यहां प्रकृति को प्राथमिक मानते हुए भी उसके समकक्ष पुरुष को उपस्थित करके सांख्य का आंशिक समर्थन है, किन्तु साथ ही यह भी कह दिया गया है कि ''विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान्'' अर्थात् ''यह ध्यान रहे कि पदार्थ में सभी गुण और परिवर्तन प्रकृति द्वारा ही उत्पन्न हैं।'' जो सांख्य का संपूर्ण समर्थन है। सांख्य के अनुसार सत्व, रजस् और तमस तीनों प्रकृति के गुण हैं, जो प्रकृति से पृथक् अपना अस्तित्व नहीं रख सकते। प्रकृति ही कारण है, उनके प्रभाव का प्रस्थान बिन्दु है। ''प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहम इति मन्यते।'' (3-37) अर्थात् सारे काम प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं, फिर भी अहंकारवश मनुष्य अपने को कर्त्ता

मान लेता है। गीता के इसी तीसरे अध्याय का 33वां श्लोक कहता है—

"सदृशं चेष्ट ते स्वस्या: प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।" (अर्थात् सभी प्राणी अपनी प्रकृति के अनुरूप कर्म करते हैं, ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते हैं)

फिर अध्याय 7-6 में कहा गया है—

"एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युप धारय।" (अर्थात् संपूर्ण भूत जगत इन दोनों प्रकृतियों (जड़ और चेतन) से ही उत्पन्न है।"

गीता सांख्य के 5 महाभूत (पृथ्वी, आकाश, वायु, जल और अग्नि), 10 इंद्रियां (5 कर्मेन्द्रियां), अहंकार, बुद्धि, मन और चेतना (पुरुष) और 5 इंद्रियानुभव (स्पर्श, ध्वनि, गंध, रस और रंग) को स्वीकार करती है किन्तु साथ ही विशिष्टाद्वैत वेदांत के अनुसार कृष्ण (स्वयं) को सर्वोपरि मानती है।

गीता सांख्य और योग को सार रूप में एकसमान मानती है और 'सांख्य योग' का उसी तरह उपयोग करती है, जैसे 'कर्मयोग', 'ज्ञानयोग' और 'भक्तियोग' का। गीता में सांख्य के तत्वज्ञान और योग के व्यावहारिक पक्ष का अच्छा खासा समन्वय मिलता है। यहां तक कहा गया है कि मूर्ख लोग ही सांख्य और योग दर्शनों को भिन्न-भिन्न मानते हैं, बुद्धिमान ऐसा नहीं मानते।

गीता के अठारहे अध्यायों में बार-बार सांख्य और योग का उल्लेख किया गया है तथा उनकी अवधाणाओं पर गीताकार द्वारा आधारभूत रचना तैयार की गई है, जबकि इसकी चेतना को आदर्शवादी वेदान्त से सज्जित किया गया है। हो सकता है कि गीता की मूल प्रति में अनेक श्लोक, जो सांख्य और योग के अंतर्विरोध का घालमेल के रूप में रचित प्रतीत होते हैं—बाद में प्रक्षेपित कर दिए गए हों। वर्तमान रूप में प्राप्त गीता को आंशिक रूप से आदर्शवादी कहा जा सकता है। वास्तव में वह एक सुन्दर समन्वयक काव्य अधिक है।

विश्व के कालजयी काव्यों में गीता का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वाधीनता संग्राम में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने 'गीता रहस्य' लिखकर भारतीयों को प्रेरित किया। इसी तरह एनी बेसेन्ट और श्री अरविन्द ने भी समकालीन परिस्थितियों में गीता की व्याख्या की। एनी बेसेन्ट ने तो यहाँ तक कहा कि "वह संगीत केवल अपनी जन्मभूमि ही नहीं, बल्कि सभी भूमियों पर गया है और उसने प्रत्येक देश में भावुक हृदयों में वही प्रतिध्वनि जगायी है।" महात्मा गांधी ने 'यंग इंडिया' में लिखा—"मैं भगवद्गीता में ऐसी शक्ति पाता हूं जो मुझे 'पर्वत पर उपदेश' (Sermon On The Mount) में भी नहीं मिलती। जब निराशा मेरे सामने खड़ी होती है और बिल्कुल अकेला मैं प्रकाश की एक किरण भी नहीं देख पाता तब मैं भगवदगीता की ओर लौटता हूं। मुझे यहां अथवा वहां एक श्लोक मिल जाता है और मैं फौरन ही अत्यधिक दुखों के बीच में भी मुस्कराने लगता हूं।" "डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं— "गीता परस्पर

विरोधी तत्वों का समन्वय करके उन्हें पूर्ण (Whole) गीता में मिलाती है।'' इधर 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा' (117) में एम. हिरियन्ना की मान्यता है कि—

''जब से इसका (गीता का) भारत के बाहर के लोगों को ज्ञान हुआ, तभी से क्यों इसे विश्व साहित्य का अंग मान लिया गया। इसका रचयिता परंपरा के अनुसार प्राय: सभी संस्कृत कवियों को प्रेरणा देने वाला माना गया और जैसी कि ऐसे पुरुष से आशा की जा सकती है, वह यहाँ नीतिशास्त्र और तत्वमीमांसा की सूक्ष्म और गूढ़ बातों का विस्तार से विवेचन नहीं करता, बल्कि केवल उनके आधारभूत मोटे-मोटे सिद्धांतों की चर्चा करता है तथा साथ ही उन्हें मनुष्य की सबसे अधिक मौलिक आकांक्षाओं से भी जोड़ देता है। और ऐसा करने के लिए किसी सूक्ष्म विवेचन को माध्यम नहीं बनाया गया है, बल्कि धर्म-सम्मोह पैदा करने वाली एक मूर्त परिस्थिति को चुना गया है और उसके समाधान का उपाय बताया गया है। विषय-प्रतिपादन का यह ठोस तरीका, जिसमें व्यंजकता स्वाभाविक है, इसके उपदेश के क्षेत्र को व्यापक कर देता है और उसे लगभग प्रत्येक के काम का बना देता है।''

आधुनिक समय के इन विचारकों से पहले भी गीता के विषय में विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी धारणाएं व्यक्त की थीं। आदि शंकराचार्य ने गीता में ज्ञान पक्ष को प्रधान माना। उनके अनुसार कर्म और भक्ति ज्ञान से ऊपर नहीं, बल्कि उनका स्थान उसके बाद का है। शंकर तत्वज्ञान को मुक्तिदाता मानते हैं। अपनी भगवद्गीता की टीका में शंकर कहते हैं—''केवलाद तत्त्वज्ञानादपि मोक्षप्राप्ति न कर्म समन्वयात्''। रामानुजाचार्य गीता में ज्ञान और कर्म की अपेक्षा भक्ति को ऊंचा मानते हैं और भक्ति में ज्ञान और कर्म को जरूरी नहीं मानते। मध्वाचार्य भी गीता में भक्ति मार्ग की प्रधानता ही स्वीकारते हैं। बल्लभाचार्य कहते हैं कि ''गीतानुसार ईश्वर की भक्ति ही मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।'' निम्बार्काचार्य भी इसी मत से सहमत हैं।

गीता के प्रति उपर्युक्त धारणाओं में विचारकों की अपनी पक्षधरता की साफ झलक दिखाई देती है। गौतम के न्यायशास्त्र के अनुसार किसी विवाद को निष्कर्ष तक पहुंचाने के लिए सात बातों पर ध्यान रखना चाहिए, जैसे उपक्रम, उपसंहार, आभास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति बालगंगाधर तिलक ने न्याय की इस प्रणाली को सामने रखकर अपना निर्णय दिया कि इन सात बातों के आधार पर गीता के मुख्य उपदेश को 'कर्मयोग' की प्रेरणा ही कहा जायेगा। इसके लिए उपदेश के परिणाम पर ध्यान केन्द्रित करना होगा, जिसके अनुसार न तो अर्जुन संन्यास की ओर प्रवृत्त हुआ और न ही भक्त बनकर भजन-कीर्तन करने लगा। इसके विपरीत वह युद्ध करने के लिए वापिस मैदान में उतर आया। वह निराशा से मुक्त होकर निष्काम कर्म में उद्यत हो गया।

किन्तु गीता को केवल कर्मयोग प्रधान कहना भी पूर्ण सत्य नहीं है। समग्र रूप में गीता कर्म, ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य है। उसमें विरोधों की एकता है—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, सांख्य, योग, उपनिषद् और वैशेषिक न्याय तक की पूरी यात्रा है। सबके सारतत्वों का समेकन है, केवल असंधेयता है तो लोकायत के प्रति।

गीताकार एक ओर पदार्थ या प्रकृति को सृष्टि का प्राथमिक कारण मानता है, तो दूसरी ओर इसके साथ ही परमात्मा को सृष्टि का सृष्टा और प्रलयकारी भी। जहाँ एक ओर शाश्वत पदार्थ की शक्तियों के स्वतंत्र स्वरूप को मान लिया गया है, वहां दूसरी ओर किसी भौतिक आधार से रहित आत्मा के प्रति शाश्वत्व का आरोपण भी किया गया है। "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः, न चैनं क्लेदन्यापो न शोषयति मारुतः" अर्थात् चेतना या आत्मा अनश्वर है, अजन्मा है। इसी को "न जायते म्रियते कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजा नित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" कह कर उसे एकमात्र तात्विक सत्य मान लिया गया है। एक ओर दूसरे अध्याय के 28वें श्लोक में कहा गया है—

"अव्यक्तानि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।" (सभी जड़ और चेतन पदार्थ अव्यक्त अर्थात् प्रकृति की अभिव्यक्ति, दूसरी ओर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग को केन्द्रक माना गया है।)

जहां "स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावह" (अपने धर्म के लिए मरना कल्याणकारी है, दूसरों का धर्म खतरनाक होता है) कहा जाता है, वहां साथ ही यहां तक कहा जाता है कि "सर्वधर्मान परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज" (सारे धर्मों को छोड़ कर मेरी ही शरण में आ जा)। एक ओर युक्ति के ज्ञान की (तर्कप्रणाली की) आवश्यकता प्रतिपादित की गई है, तो दूसरी ओर "अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" (सोच मत कर मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा)।

उपर्युक्त 'स्वधर्म' हेतु मरने का आह्वान और 'पर धर्म' को भयानक बताकर असहिष्णुता व कट्टरता की ओर संकेत किया गया है, तो दूसरी ओर कृष्ण यह छूट भी दे देते हैं कि यदि कोई "श्रद्धा से किसी भी अन्य की पूजा भी करे, तो वह भी मुझे ही पूजता है, चाहे उसकी पूजा विधि-विधान के अनुसार न भी क्यों न हो।"

इस प्रकार के विरोधाभासों के एक साथ होने के कारण ही अलग-अलग विचारकों ने गीता का विश्लेषण अपने-अपने मतों की पुष्टि के लिए किया। किन्तु निरपेक्षता के साथ देखने पर तो गीता कर्म, भक्ति और ज्ञान की एकीकृत काव्याभिव्यक्ति ही प्रमाणित होती है, जिसे किसी स्वतंत्र दार्शनिक प्रणाली के रूप में रचा ही नहीं गया।

गीता की अन्तर्वस्तु की पृष्ठभूमि में जो सामाजिक परिस्थितियां काम कर रही

थीं, उन्हें निम्नांकित बिन्दुओं में इस प्रकार सांकेतित किया जा सकता है—

(1) रामायण और महाभारत की रचना जमीन-जायदाद या राज्य पर कब्जा करने के लिए ही लड़ाइयों पर आधारित है। ये सामंतकालीन राजाओं की लड़ाइयां किसी न किसी रूप में हर देश में रही हैं और ये काव्य-रचना का भौतिक-आर्थिक आधार भी रही हैं। भगवद्‌गीता भी महाभारत का भाग होने के कारण इसी परिस्थिति को आधारभूत रूप में ग्रहण करती है। आर्थिक दृष्टि से हम इसे उत्पादन के साधन भूमि या राज्यक्षेत्र पर स्वामित्व हेतु प्रयास के रूप में पहचानते हैं। प्रकारांतर से गीता की आधारभूत समस्या, राज्य के लिए अपनों के विरुद्ध युद्ध के लिए प्रेरित होना या करना— भारत सहित सभी देशों की सार्वत्रिक समस्या रही है।

(2) राजाओं के पारस्परिक झगड़ों के कारण जब बिखराव और अराजकता पैदा होती है तो उनको नियंत्रित कर देश में एकसूत्रता, सुदृढ़ता और केन्द्रीकृत राज्यशक्ति की जरूरत पड़ती है और उस स्थिति में समेकीकरण करने या सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता दिखाई पड़ती है—न केवल राज और समाज में, बल्कि तज्जनित बिखरी हुई विचार-प्रणालियों में भी। गीता में कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वयन इसी का द्योतक है। साथ ही सांख्य, योग और मीमांसा में तालमेल बिठाना दार्शनिक सामंजस्य की चेष्टा का ही परिचायक है।

(3) गीता का द्वन्द्व शूद्रों से है, अनीश्वरवादियों से है जो 'आसुरी प्रकृति वाले' हैं। गीता वर्णव्यवस्था में बिखराव नहीं चाहती, व्यवस्था में लोकतंत्र नहीं चाहती, बल्कि ब्राह्मण-क्षत्रिय वाला 'स्वधर्म' चाहती है जिसके लिए मरना श्रेयस्कर है। अनीश्वरता परधर्म है जो 'भयावह' है। दार्शनिक स्तर पर वह लोकायत के विरुद्ध है। अनीश्वरवाद उसका शत्रु है। वेद विरोध उसे सहन नहीं—इस अर्थ में वह वेदविरोधी विचार-प्रणालियों के भी विरुद्ध है।

(4) गीता स्त्रियों और शूद्रों के लिए वेदाध्ययन हेतु मार्ग प्रशस्त नहीं करती। तत्त्वज्ञान नहीं, बल्कि तर्करहित भक्तिमार्ग को सबके लिए खुला छोड़ देती है।

(5) गीता में जगह-जगह परस्पर विरोधी विचार हैं जो समन्वयात्मक विरोधाभास पैदा करते हैं। इससे एक प्रकार की भ्रमात्मक स्थिति पैदा होती है—जैसे कहीं प्रकृति की प्रधानता है तो कहीं उसका अस्तित्व ही सापेक्ष है।

(6) गीता के सारे वैचारिक समन्वयवाद का अर्थात् ज्ञान-कर्म-भक्ति जन्य उपदेश का निष्कर्ष तो 'क्षत्रियत्त्व की रक्षा' करना अर्थात् युद्ध और हिंसा की ओर प्रेरित करना ही है जिसके पीछे संपदा का स्वामित्व ही प्रमुख कारक है।

(7) गीता मगध-शक-कुषाण युग में विकसित विभिन्न विचारों और परंपराओं को भी बड़ी चतुरता के साथ समाहित करती है। यह चतुरता गीताकार की अपनी राजनीतिक पटुता तथा काव्य-कुशलता का परिचय देती है।

(8) गीता का सबसे ज्यादा उज्ज्वल पक्ष यह है कि वह अपने समय की विकासोन्मुख सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और वैचारिक धाराओं को तथा गहन दार्शनिक अवधारणाओं को समेकित कर प्रेरक काव्य-भाषा में प्रस्तुत करती है।

(9) इसकी नाटकीय संवाद शैली और गहरी से गहरी चिंतन-पद्धति को इतनी सहजता से प्रकट करने की इसकी अनुपम क्षमता इसे सार्विक और सर्वकालिक श्रेष्ठतम वैश्विक कृतियों में प्रतिष्ठित करती है।

(10) गीता में प्रवृत्ति और निवृत्ति का अद्भुत सामंजस्य है। यहां काम करने की प्रेरणा है, किन्तु उसे निष्काम बनाकर निवृत्ति की ओर उन्मुख कर दिया गया है। अर्जुन संन्यास लेने की बात कहता है, किन्तु कृष्ण उसे पलायनवाद कह कर नकार देते हैं। एम. हिरियन्ना कहते हैं—"हमारा युग आत्मदमन नहीं बल्कि आत्मगौरव (Self-assertion) का युग है। लोग संन्यासी बनने के लिए अपना कर्तव्य छोड़ने वाले नहीं हैं, जैसा कि अर्जुन करना चाहता था। खतरा दूसरी ओर से है। अपने अधिकारों का दावा और उपयोग करने की उत्सुकता में हम अपने कर्तव्य की अवहेलना कर सकते हैं। इसलिए गीता के उपदेशों की जरूरत हमेशा की तरह अब भी बहुत अधिक है। समय बीतने पर भी इसका मूल्य घटा नहीं है और यही उसकी महानता का चिह्न है।"

गीताकार का निम्नांकित श्लोक इसी को इस तरह स्पष्ट करता है—

"संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयस करावुभौ।

तयोस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥"

एनी बेसेन्ट के अनुसार "इस योग शास्त्र में सब कहीं घोर कर्म का उपदेश है।" परन्तु एक जगह यह भी कहा गया है कि "तपस्वी से योगी बड़ा है, ज्ञानी से भी योगी बड़ा है। कर्मी से भी योगी ऊंचा है, अतः हे अर्जुन, तू योगी हो।" गीता इस तरह के अनेक अन्तर्विरोधों से भरी हुई है।

गीता की ऊर्जस्विता उसके आह्वान श्लोकों में पायी जाती है। ये प्राणवान उद्बोधन अन्यत्र दुर्लभ हैं। ये गीता की जीवंतताएँ हैं, ये भारत की हीं नहीं, अपितु विश्वभावना की धड़कन हैं। ये प्रेरणास्रोत हैं, उत्प्रेरक विद्युत-तरंगें हैं। इनके बिना गीता को सुगीता कौन कहेगा। ये गीता की आत्मीयताएँ हैं जो ज्ञान, कर्म और भक्ति में ओजमय सामंजस्य का संचार करती हैं। वे ये हैं—

क्लेव्यं मा स्म गमः पार्थ (2-3)—(हे अर्जुन! नपुंसक मत बन)

त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप (2-3)—(कायरता छोड़ युद्ध हेतु खड़ा हो!)

अशोच्यानन्व शोचस्त्वम् प्रज्ञावादांश्च भाषसे (2-11)—(तू शोक न करने योग्यों के लिए शोक करता है और पंडिताऊ बात बघारता है [व्यंग्य])

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चय (2-37)—(इसलिए हे कुंतीपुत्र!

युद्ध करने का निश्चय करके खड़ा हो जा!)

सुखदुखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयजयौ, ततो युद्धाय युजस्व नैवं पापमवाप्स्यसि—(सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझ कर युद्ध के लिए तैयार हो, इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा)

तस्माद्योगाय युजस्व योगःकर्मसु कौशलम (2-50)—(इसलिए योग के लिए प्रयत्न कर, कर्मों की कुशलता ही योग है)

नियतं कुरु कर्मत्वं (3-8)—(तू अपने निर्धारित काम को कर)

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर (3-9)—(इसलिए हे कुंतीपुत्र! निष्काम कर्म को अच्छी तरह कर)

तस्मादसक्त सततं कार्यकर्मं समाचर (3-19)—(इससे तू अनासक्त हुआ निरंतर कर्त्तव्य कर्म का भली प्रकार आचरण कर)

निराशी निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगत ज्वरः (3-30)—(आशारहित व ममतारहित होकर संतापरहित हुआ तू युद्ध कर)

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम (3-43)—(हे महाबली! इस दुर्जय कामरूपी शत्रु को मार)

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत (4-42)—(हे अर्जुन! इस संशय को चीर कर योगस्थित हो और युद्ध के लिए खड़ा हो)

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व जित्वाशत्रून भुंक्ष्व राज्यंसमृद्धम् मयैवैते निहिताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन! (11-33)—(इसलिय तू खड़ा हो और यश प्राप्त कर तथा शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य को भोग। ये सब तो मेरे द्वारा पहले से ही मार डाले गए हैं, हे बाएँ हाथ से बाण चलाने वाले (सव्यसाची) तू निमित्त मात्र हो जा)

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यष्ठि, युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान (11-34)—(मेरे द्वारा मारे हुओं को तू मार, भय मत कर, तू युद्ध में जीतेगा, इसलिए युद्ध कर)

तस्मात् शास्त्रप्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ, ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमर्हसि। (16-24)—(इस तरह तुम्हारे लिए इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है, यह जानकर शास्त्र निर्धारित कर्म ही करने योग्य हैं)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच। (18-66)—(सारे धर्मों को छोड़ कर मेरी ही शरण में आजा, मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूंगा, तू सोच मत कर)

इन उद्घोषों से संघर्षों की प्रेरणाएँ मिली हैं। किसी हताश व्यक्ति या समुदाय को आसानी से तैयार नहीं किया जा सकता, जब तक कि दार्शनिक तर्कों से उसके मस्तिष्क को प्रभावित न किया जा सके। सीधा-सा आह्वान तो यह था कि अत्याचार

के विरुद्ध लड़ने के लिए उठ खड़े हो, किन्तु चेतना को तदनुकूल बनाने के लिए दर्शन और तर्कशास्त्र के प्रमेयों का सहारा लेना अनिवार्य होता है, यहां कृष्ण ने इसीलिए सांख्य, योग आदि का आधार लेकर अपने उद्देश्य की सार्थकता को प्रमाणित कर दिया। यदि इतना ही पर्याप्त होता कि किसी को अपने प्रमाणों से परास्त करके उसे संघर्ष के लिए उद्यत किया जा सका हो, तो वह भ्रम ही सिद्ध होता, क्योंकि यदि भावना को चेतना के साथ न जोड़ा जाय, तो चेतना अकेली वह ऊर्जा पैदा नहीं कर सकती, और न ही सिर हथेली पर रखकर बलिवेदी पर चढ़ने के लिए किसी को तैयार ही किया जा सकता है। इन उपर्युक्त उद्घोषों की पृष्ठभूमि में जहां चेतना की जागरूकता दिखाई देती है, वहां उसी अनुपात में भावमयता अथवा भक्तिपूर्ण आस्था का संबल भी है।

इन्हीं उद्घोषों ने स्वतंत्रता संग्राम में प्रभावकारी साधन का काम किया। इस देश की सदियों से पराजित, शोषित और पीड़ित एवं हताश जनता को इस युद्ध में तत्पर होकर खड़ा करने में इन्होंने स्थायी जादू का सा असर पैदा कर दिया। जहां आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि संस्थाओं के संस्थापकों ने पुनरुत्थान में इनका उपयोग किया, वहां संन्यासियों ने भी विद्रोही बन कर इनके सहारे युद्ध का मोर्चा संभाला। तिलक के ओजस्वी भाषणों का आधार भी ये ही प्रेरक शब्दघोष थे, तो महात्मा गांधी ने भी गीता के माध्यम से जनजागरण का अभूतपूर्व वातावरण तैयार किया। तिलक और गांधी ने तो गीता पर अपना-अपना विवेचन भी प्रस्तुत किया। तिलक और गांधी के अलावा और कितने ही स्वतंत्रता-सेनानियों ने गीता के सहारे बिखराव को संगठित शक्ति में परिवर्तित किया। संस्कृत साहित्य में गीता ही ऐसा काव्य था जिसने जनसाधारण को स्वाधीनता हेतु संघर्षरत होने के लिए अपूर्व प्रेरणा प्रदान की।

उपनिवेशवाद की जंजीरों को तोड़ने में गीता ने जो भूमिका अदा की, उसका जितना उच्च मूल्यांकन किया जाय, वह कम ही होगा। यह उसके निष्काम कर्मयोग की अवधारणा की देन थी कि आजादी के दीवाने जान हथेली पर रखकर रणक्षेत्र में आ डटे और परवाह नहीं की लाठियों और गोलियों की। वे हँसते-हँसते जेल गए, यातनाएँ सहीं, अपने परिवार व घरबार छोड़ फांसी पर झूल गए। इस समय गीता की प्रेरणा थी या फिर 'इन्कलाब जिन्दाबाद!' अथवा 'सरफरोशी की तमन्ना'।

इससे पहले सामंती काल में गीता के भक्तियोग ने भक्ति आंदोलन को संबल दिया था। सारे कृष्ण भक्ति काव्य में इसके प्रभाव को देखा जा सकता है। सूर, मीरा, रसखान तथा अन्य भक्त कवियों ने प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से राजाओं-बादशाहों को चुनौतियां दी थीं।

सूरदास ने कहा—

"संतन का सिकरी सन काम

आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरि नाम
जाको मुख देखे दुख उपजत, ताको करिबौ परै सलाम।''

मीरां तो महाराणा के विरुद्ध बगावत करके कह उठी—''मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'' इधर रसखान कह रहे थे—''या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूं पुर को तजि डारौं।'' इस सबके अतिरिक्त गीता की ज्ञानमीमांसा के प्रभाव को निराकारी भक्त कवियों में देखा जा सकता है।'पांच तत्व' और योग व मायावाद निराकारियों की भक्ति का मूलमंत्र रहा है।

गीता का भक्तियोग उन असहाय, उपेक्षित और हताश व्यक्तियों का सहारा बनता है, जिनको और किसी का सहारा नहीं होता। मानसिक टूटन में एक बार फिर जीवन-संग्राम में उतरने की प्रेरणा देता है। कइयों को आत्महत्या से बचा लेता है, तो कइयों के लिए मनोवैज्ञानिक चिकित्सक का काम करता है। वर्णाश्रम के कट्टरवादियों ने स्त्रियों और शूद्रों पर पाबंदियां लगा दी हों; लेकिन गीता के भक्तियोग में यह पाबंदी नहीं है। जात-पांत पूछै ना कोई, हरि को भजै सो हरि का होई। यहां वेश्या भी भक्ति कर सकती है। यही कारण है कि भक्ति में सभी वर्णों के लोग हैं। यहां रैदास भरे पड़े है। यहां हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं। यहां अनेक रसखान हैं। यहां कबीर के मां-बाप की जात नहीं पूछी जाती।

गीता को अनेक दार्शनिकों ने शुद्ध दर्शनग्रंथ नहीं माना, किन्तु यह एकांगी दृष्टिकोण है। यदि सृष्टि के अस्तित्व का तात्विक विश्लेषण मात्र ही दर्शन है और उस दर्शन का परिवर्तन प्रक्रिया में कोई स्थान नहीं है, तब तो गीता पर यह आशंका सही हो सकती है। लेकिन यदि दर्शन के तात्विक ज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति या समाज सापेक्ष होना है अर्थात् व्यक्ति और समाज में वांछित परिवर्तन या बदलाव लाने का सरोकार अपने में अन्तर्निहित रखता है, तो गीता को परिवर्तनकारी दर्शन का एक महत्वपूर्ण घटक स्वीकार करना होगा

एक साधारण-सी नैतिक जिज्ञासा का समाधान करने के लिए इसमे तत्कालीन दर्शनों का तात्विक विवेचन है जो पूर्वप्रदत्त है, किन्तु उनके विरोधाभासों को समाहित करना इसकी द्वन्द्वात्मकता है। क्या अद्वैत को विशिष्टाद्वैत, वर्णाश्रम को समत्व, कर्त्ता को निमित्तमात्र, आंगिकता को पूर्णता, स्वधर्म-परधर्म को सर्वधर्म त्याग, कर्मकांड को सहज भक्ति, तंत्रमंत्रात्मकता को योग; कर्मसुकौशलम्, अहिंसा को सापेक्ष हिंसा और सबसे बढ़कर सृष्टि की रचना में प्राथमिक तत्व के बतौर ईश्वर या ब्रह्म को प्रकृति या पदार्थ के समकक्ष रखना गीता में द्वन्द्वात्मकता का आभास नहीं देता ? ऐसा तो नहीं ही समझा जा सकता कि गीताकार ने यों ही नासमझी में विरोधाभासी दर्शनों का जमघट खड़ा कर दिया है, बल्कि सच्चाई यह है कि इसकी दृष्टि में एक द्वन्द्वात्मक यथार्थ है, जिसको लेकर उसने अपनी दिशा का निर्धारण किया है। इस यथार्थ की पहचान

तत्कालीन दार्शनिक अवधारणाओं के अन्तर्विरोधों, सामाजिक-सांपत्तिक विषमताओं और वैयक्तिक मनःस्थितियों के सही परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने में है।

तत्कालीन दार्शनिक अवधारणाओं के अन्तर्विरोधों के यथार्थ की ओर संकेत किया जा चुका है। सामाजिक-सांपत्तिक विषमता का यथार्थ यह है छल-कपट से कौरवों ने पांडवों की जमीन-जायदाद को हड़प लिया है और उनकी पत्नी द्रौपदी को सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र कर नारी जाति को अपमानित करने की जलालत की है। वैयक्तिक उलझन अर्जुन में है जो रिश्तेदारी का खयाल कर कौरवों के अत्याचार को सहन करने, न करने के अन्तर्द्वन्द्व के रूप में दिखाई देती है।

यह महाभारत काल का वैचारिक, सामाजिक और वैयक्तिक यथार्थ है—यथा-तथ्य है। अब सवाल उठता है कि इस अन्यायपूर्ण यथास्थिति को कायम रहने दिया जाय, या इसे तोड़ कर परिवर्तन की दिशा का निर्धारण किया जाय। अर्जुन कुनबेबाजी की जड़ीभूत परंपरा के निर्वाह में आगे बढ़ने में घबराहट महसूस करता है। उसे यथास्थिति को तोड़कर परिवर्तनकारी दिशा नहीं दिखाई देती। किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति पैदा हो जाती है। कृष्ण को समाज की भावी दिशा का ज्ञान है, किन्तु वे मंत्रदृष्टा हैं—अग्रगामी परिवर्तन के दिशा-निर्देशक, अपने समय के इतिहास की गतिशीलता को पहचानने वाले चिंतक और क्षमतावान प्रेरक। अर्जुन की स्थिति उस कर्त्ता की है जो बिना तर्कसंगत प्रेरणा प्राप्त किए सशक्त होकर भी निष्क्रिय है। इसी पृष्ठभूमि में गीताकार को गीता रचने की आवश्यकता महसूस होती है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुश्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभावामि युगे युगे।

यहाँ धर्म का अर्थ कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य की आवश्यकता अवरोधकों को नष्ट करने के लिए होती है। अवरोधकों को नष्ट करने पर ही सज्जनता को संरक्षण मिल सकता है और सक्रिय शक्तियां वांछित परिवर्तन हेतु आगे आती हैं। युग-युग में परिवर्तनकारी नेतृत्व अवतरित होता है जिसके पास एक सुस्पष्ट उद्देश्य होता है।

यह युगावतार क्या है और कहां से आता है ? उत्तर है प्रतीकात्मक। युगावतार, यह जननेता एकाकी होते हुए भी जनसमूह ही है जिसकी अनेक भुजाएँ है, अनेक आंखें अर्थात् अनेक अंग-प्रत्यंग और अनेक चिंतनोपकरण-मस्तिष्क हैं। इनमें कितने ही अनुभव संचित हैं। यह एक सामूहिक इकाई है जिसका कर्त्तव्य है सत को संरक्षित रखना और तमस का विनाश करना। यह प्रत्येक युग में तत्कालीन युग के जनसमुदाय द्वारा पैदा किया हुआ होता है, क्योंकि बिना अनेक भुजाओं के बल और बिना अनेक मस्तिष्कों के चिंतन के एकीभूत हुए कोई एकांतक नेता या युगावतार पैदा ही नहीं

हो सकता।

महाभारत और उसका रचनाकार कवि, गीता, गीताकार, अर्जुन और कृष्ण ये सब भारत के एक ऐतिहासिक युग विशेष की पैदायशें या पैदावार हैं, जो युग कभी का समाप्त हो गया। एक युग की इन विशिष्टियों को सर्वकालिक युगों या परिवर्तित युगों के यथार्थ के रूप में धारण कर लेना भयंकरतम भूल होगी। महाकाव्य और काव्य की अन्तर्वस्तु को उसकी रचनाकालाधीन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के रूप में ही समझा जाना चाहिए। रामायण, महाभारत और गीता कबीलाई और दासप्रथा के उत्पादन संबंधों के विघटन और सामंती संबंधों के विकास की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मात्र हैं। न इनमें सार्विक, सर्वकालिक या सर्वयुगीन, सार्वजनीन सर्वसामाजिक सत्य नहीं हो सकता और न ही अपेक्षा ही रखनी चाहिए। गीता एक युग विशेष की प्रतिनिधि काव्याभिव्यक्ति है, जिसमें प्रतीकस्वरूप युगसंकेत समाहित हैं, वरन् युद्ध के मैदान में खड़ा कोई भी अर्जुन ऐसी कायरता दिखाकर भागने की स्थिति में होता है और न कोई ऐसा कृष्ण हो सकता है जो इतना तर्कबोझिल उबाऊ और लंबा उपदेश दे सके और उसे सुन समझ सकने का धीरज रखनेवाला कोई युद्धरत क्षत्रिय तो हो ही नहीं सकता और न ही युद्धस्थ सेनाएँ रुकी रह सकती हैं।

• •

अन्तर्द्वन्द्व

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक-सामाजिक विकास की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न रही है। कहीं पर सदियों तक सामुदायिक व्यवस्था ही चलती रही, जबकि अन्य क्षेत्रों में उसी कालावधि में दास और दासस्वामी प्रथा तो कहीं उससे भी आगे सामंती संबंधों की व्यवस्था के प्रथम चरण की अवस्था परिलक्षित हुई। समग्र रूप से देखा जाय तो इस विशाल देश में ऐतिहासिक अवस्थाओं की अपनी ऐसी विशेषताएँ रही हैं, जो दुनिया के अन्य देशों से कहीं समानता लिए हुए भी अन्यत्र अपनी भिन्नता प्रकट करती हैं। युगों-युगों से चले आ रहे ग्राम समुदाय, कृषि और दस्तकारी का घालमेल, बिरादरी के कबीली संबंधों की निरंतरता, जातिप्रथा, छुआछूत और दासप्रथा एवं आदिम सामुदायिक साम्यवाद के अवशेषों का जारी रहना भारत की अपनी विशेषता है। यहां वर्णव्यस्था के साथ वर्गव्यवस्था का विकास हुआ है। यहां दासप्रथा का उन्मूलन हुए बिना सामंतवाद का विकास होने लगा। यूरोप की अपेक्षा यहां उत्पीड़न और संघर्ष दोनों की तीक्ष्णता और तीव्रता नहीं दिखाई दी। पुरातन को बिना नष्ट किए या उसको साथ लिए सहज भाव से नये का शुरू होकर विकसित होना भारत की विशेषता भी है और कमजोरी भी।

आज भी कबीली बंधन और गणचिह्नवाद के साथ दास और सामंती संबंध कायम हैं। देश के अधिकांश भाग में पिता की प्रधानता है, तो कुछ स्थानों पर मातृसत्ता की परंपरा है। भारतीय सामंतवाद की दूसरी विशेषता है भूमि का सामूहिक स्वामित्व, जो प्राचीन काल से चलता आ रहा है। उसके साथ-साथ निजी स्वामित्व भी चलता रहा है। उत्तराधिकारी को विरासत में भी जमीन मिलना एक आम बात हो गई। राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी का सामंत बनना, माफियाओं का सामंत बन जाना, दान से प्राप्त भूमि से भूस्वामी, मठाधीशों और पुजारियों का सामंत बन जाना, गिरोही बलशाली का सामंत बन जाना, जातिगत आधार पर सामंत बन जाना तथा यहां तक कि गांव के मुखिया और लिपिक तक का राजा द्वारा कर-वसूली का अधिकार पाकर सामंत

बन जाना सामंतवाद के विकसित होने का वजूद बन गया।

यहां सामंतवाद की चर्चा करने की प्रासंगिकता यह है कि भारतीय इतिहास के मध्यकाल में यह एक प्रधान कारण रहा है सामाजिक और वैचारिक अर्न्तद्वन्द्व का।

राजाओं का राजा अर्थात् महाराजा या बादशाह—किसान, मजदूर, दस्तकार व अन्य सब प्रकार के लोगों का सिरमौर शोषक था। बादशाह के बाद राजा, राजा के बाद सामंत (जागीरदार, जमींदार), राज्याधिकारी,मठाधीश, पंडित, मुखिया, लिपिक और पटवारी आदि की एक ऐसी चट्टानी पिरामिड थी जिसके नीचे शोषित-उत्पीड़ित जनता कराह रही थी। वर्णव्यवस्था का सुदृढ़ीकरण शूद्रों-दलितों को छाती क्रूरता के साथ कुचल रहा था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्यों का दंभ शूद्रों के मानवी अस्तित्व को चबा रहा था। चारों ओर पराजय का वातावरण था। निराशा, घोर निराशा, हताशा, असहायता, कर्ज और कोड़े, अपहरण, उत्पीड़न, बलात्कार, देहदान या देहव्यापार, घुटन, मायूसी - ·अंधकार ही अंधकार, कराहट ही कराहट, अंधता और जड़ता ही चारों ओर तो दूसरी ओर बादशाह-महाराजाओं, राजाओं, जागीरदारों, जमींदारों और अन्य ऊँचे लोगों की ऐय्याशी, उनके अदम्य दंभ, अनवरत अत्याचार, भावनाशून्य दानवी व्यवहार तथा दैवी आतंक इंसानियत के अस्तित्व को चुनौती देते जा रहे थे। बुद्धिमानी की पहचान बन गई थी चाटुकारिता। चतुरता थी अवसरवादिता। गुणवत्ता थी गुलामी में। कौन सुनता रोने, चीखने, चिल्लाने को। आत्मा परमात्मा से सहवास कर रही थी और परमात्मा स्वयं बदतमीजों, बदमिजाजों मदहोशों के महलों में घुसा बैठा था।

यह कोई एक दिन, एक माह, वर्ष या वर्षों तक सीमित रहने वाला अवधि-परक माहौल नहीं था, बल्कि सदियों तक यह मूक वेदना रक्तशोषण करती रही। उच्चवर्ग और उच्चवर्णीय समुदाय मदहोश-मदांध था, मध्यम समुदाय चाटुकारिता और अपना सिट्टा सेकने में लगा था, सैनिक युद्धों या युद्ध योजनाओं में उलझ रहा था—ऐसे में भावनाएँ टूट रही थीं, साधना सो रही थी और दार्शनिक चिंतन हतप्रभ हो रहा था। समाज का ढांचा ऊपर से ठोस दिख रहा था, पर भीतर से खोखला हो रहा था। अंधविश्वास, भ्रम और रूढ़ता ने सोचने को कैद कर लिया था। प्राकृतिक और सामाजिक आपदाओं ने बस्तियों और परिवारों को उजाड़ कर रख दिया था।

इधर एक समुदाय था जो घर-गृहस्थी को छोड़ कर संन्यास ले चुका था। संन्यासियों के भी अपने अपने संप्रदाय बन चुके थे जिन पर दार्शनिक प्रणालियों के प्रणेताओं की शिक्षाओं का प्रभाव था। किन्तु इन अलग-अलग संप्रदायों का एक सर्वमान्य मुक्तिमार्ग था—निष्काम भक्ति साधना। किसी संत संप्रदाय पर शंकर के अद्वैत वेदांत का प्रभाव था, तो किसी पर रामानुज के विशिष्टाद्वैत का। कोई मध्व के द्वैत का अनुसरण कर रहा था, तो कोई निम्बार्क के द्वैताद्वैत का। वल्लभ संप्रदाय वाले

शुद्धाद्वैत दर्शन शाखा को अपनी भक्ति का आधार स्वीकार करते थे। हरेक संप्रदाय ब्रह्म या ईश्वर या परमात्मा को जगत का कारण मानता था। निराकार या निर्गुण ब्रह्म को मानने वाले अवतारवाद में विश्वास नहीं करते थे, जबकि सगुण ईश्वर वाले भगवान के विविध अवतारों पर विश्वास करते थे। अवतारों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण आदि पुरुष—भगवान थे, तो दुर्गा, काली, सरस्वती, लक्ष्मी या कमला आदि नारी—भगवतियां प्रमुख थीं। योनि-स्थापित लिंग या केवल लिंग भी सगुणोपासना में भगवान का प्रतीक और पूजनीय था। बौद्ध और जैन संप्रदायों में भी बुद्ध और महावीर को मठ-मंदिर में प्रतिष्ठित कर उनमें ईश्वरत्व को साकार कर दिया गया था।

जब ईश्वर साकार होकर अवतरित हो गया, तो उसके लिए आवास की भी आवश्यकता महसूस की गई। इसके लिए राजाओं और धनवानों द्वारा भव्य और विशाल मठ और मंदिर बनाए गए, जिनमें शिल्प, मूर्त्ति, चित्र आदि कलाओं के उत्कृष्टतम नमूने प्रस्तुत किए गए। भवनों के प्रतिष्ठा समारोह किए गए और मूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठाएं भी। राजाओं ने मठ-मंदिरों के निर्माण में इसलिए रुचि ली कि राजाओं का सैद्धांतिक गुजारा ईश्वर के बिना नहीं हो सकता था और न ईश्वर का राजाओं के बिना। ईश्वर और राजा दोनों को जनता से सब कुछ वसूलना था। वैसे राजा और ईश्वर या ईश्वर और राजा में भेद ही क्या था। दोनों एक ही वर्ग-वर्ण के थे।

ईश्वर ने राजा को अपने में से पैदा कर धरती पर उतारा और राजा ने जगह-जगह ईश्वर खड़े कर दिए। दोनों ने अपने-अपने दार्शनिक पैदा कर दिए। विचारकों ने उनके दर्शन करवाए तो उन्होंने अपने-अपने विचारकों को अपने साथ पूजनीय बना दिया। ईश्वर, अवतार—ईश्वर ही राजा, राजा ही ईश्वर—दिल्लीश्वरो जगदीश्वरो वा। राजा के विशाल राजमहल, भगवान के विशाल मठ-मंदिर, दोनों चल-अचल संपदाओं के मालिक, भोगी। राजा के मंत्री, भगवान के अवतार, पैगम्बर, देवता। राजा की ढेर सारी रानियां-नर्तकियां, भगवान के भगवतियां-अप्सराएँ राजा के जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, विजयोत्सव तो भगवान के भी अष्टमी, नवमी, दशमी, स्वयंवर, रासलीला आदि। दोनों एक ही वर्ण-वर्ग के, एक ही माजने के। दोनों के सौ अवगुण माफ सब नजरअंदाज।

लेकिन धरती का यह इन्सान, सृष्टि का मानव और राज्य की जनता या राजा की प्रजा एक जटिल इकाई है। फिर भी सीधी-सी बात है—पदार्थ, उसकी गतिशील प्रकृति पृथ्वी, पृथ्वी का रासायनिक और जैविक विकास एवं जैविक विकास का घटक विशेष मनुष्य। मनुष्य कालांतर में उपकरणकर्त्ता के रूप में विकसित हुआ और उपकरण निर्माण के माध्यम से हो गया उत्पादनकर्त्ता।

उत्पादनकर्त्ता लगातार बढ़ता ही गया, बंटता ही गया। कबीलों से परिवार,

गांव, नगर और राष्ट्र बन गए। इंसानों ने नायक बनाया, सेना बनाई, सेना-नायक बनायें, राजा बनाया, मालिक बनाया। लड़-झगड़कर जीतने वाले ने हारने वाले को गुलाम। इसी तरह उसने ईश्वर बनाया, आत्मा और परमात्मा भी, उसने अवतार और देवता बना डाले, पीर-पैगम्बर बना दिए। मनुष्य द्वारा निर्मित व्यवस्था में से ही वर्गव्यवस्था और वर्णव्यवस्था विकसित हुई। आदिम समूहों में से दासप्रथा, दासप्रथा में से सामंत प्रथा और सामंत प्रथा में राजा, जागीरदार, जमींदार का एक वर्ग और किसान, दस्तकार और मजूर का दूसरा वर्ग। यह इतिहास की मोटी समझ है।

भारतीय सामंतवाद का पूर्ण विकास दो सोपानों में हुआ—पूर्व सामंतवाद और उत्तर सामंतवाद। पूर्व सामंतवाद की अवधि छठी से बारहवीं सदी तक रही और उत्तरसामंतवाद की तेरहवीं से अठारहवीं। दर्शन का द्वन्द्व दासप्रथा के समाज में शुरू हो गया था। इसे वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध लोकायत, बौद्ध, जैन और सांख्ययोग में देखा जा सकता है और इसमें भी ईश्वरवाद के विरुद्ध लोकायत और सांख्य को विशेष रूप से रेखांकित किया जा सकता है। शंकर के अद्वैत ने भी कर्मकांड को मायाजाल में समेट कर 'छद्म बौद्धता' का परिचय दे दिया। सार रूप में देखा जाय तो दर्शन के आंरभ से लेकर निरंतर उसके साथ उसका अन्तर्द्वन्द्व कायम रहा है। दर्शन ने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दुखों और आवेगों से मुक्ति के लिए सत्ताभोग को सदैव तिरस्कृत किया है, उसने राजपुरोहितों के विचारों को कहीं पर तरजीह नहीं दी। लेकिन दासप्रथा में वैचारिक अन्तर्विरोध इतना मुखर नहीं हुआ था जितना सामंत काल में, विशेषत: उसके उत्तरकाल में ।

सामंतकाल में एक ओर शोषक वर्ग था जिसमें शाही परिवार, सामंती कुनबे के अलावा सरकारी अधिकारी, पुरोहित और ग्रामशासक थे। इनके पास सबसे अच्छी जमीनें होती थीं। दूसरा समूह स्वतंत्र किसान समुदायों का या संयुक्त परिवारों का था। इनके पास भी जमीन होती थी। इन दो प्रकार के नीचे जमीन के असली जोतने-बोने वालों का समूह था। सबसे नीचे बढ़ई, लुहार व अन्य मजदूरों असली जोतने-बोने वाला किसान और लकड़ी-लोहे के कारीगर व अन्य प्रकार के काम करने वाले श्रमिक सबसे ज्यादा शोषित थे। गांव के शोषक, जो जागीरदारों के सहयोगी थे, उनमें और शोषित समूहों के बीच तीव्र अन्तर्विरोध थे। ये अन्तर्विरोध, चाहे नगरीय आर्थिक ढांचे के परिवर्तनों के कारण हों, चाहे ग्रामीण आर्थिक संरचना के परिवर्तनों के कारण हों—वे जनसाधारण के सामाजिक रस्म-रिवाजों, धार्मिक मान्यताओं, नैतिकताओं और दार्शनिक दृष्टिकोण को भी प्रभावित करते थे।

उपनिषद काल के ब्राह्मणवाद के विरोधी बौद्ध और जैन भी जब अपनी रूढ़ियों में फंस कर प्रभावरहित होने लगे तो सामंती काल में हिन्दू और इस्लाम धर्मों का उदय हुआ। हिन्दूधर्म वैदिक धर्म का परिवर्तित संस्करण था। आठवीं सदी में एक

और इस्लाम ने भारत में प्रवेश किया और इसी समय वैदिक धर्म का नया संस्करण बन कर हिन्दू धर्म उदित हुआ। यह एक प्रकार का धार्मिक अन्तर्विरोध था जिसने सांप्रदायिक अन्तर्विरोध का स्वरूप ग्रहण कर लिया अथवा यों कहा जा सकता है कि सांप्रदायिक अन्तर्विरोध ने धार्मिक अन्तर्विरोध को जन्म दिया। आठवीं सदी से पूर्व भारत में न कोई हिन्दू धर्म था, न कोई इस्लाम धर्म। धार्मिक और सांप्रदायिक भिन्नताओं के बावजूद दोनों में एक सामंजस्य था, जिसका मुख्य कारण था आर्थिक (विशेषत: व्यावसायिक), सांस्कृतिक, साहित्यिक व राजनैतिक स्तर पर सामंजस्य का होना।

हिन्दू धर्म व संप्रदाय और इसी तरह इस्लाम धर्म और संप्रदाय सामंती युग में ही पैदा हुए और इसी काल में विकसित हुए। दोनों का यह विकास सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही क्षेत्रों में होता रहा। इसका मुख्य उद्देश्य था मध्यकालीन *सामाजिक संरचना को न केवल कायम रखना, अपितु उसे और अधिक सुदृढ़ बनाना।* हिन्दू धर्म सामंतवाद की जरूरतों को उसी प्रकार अभिव्यक्त करता था जिस प्रकार प्राचीन ब्राह्मणवाद उदीयमान दासप्रथा की आवश्यकताओं को पूरा करता था। यह प्राचीन श्रुतियों और स्मृतियों पर आधारित होने के कारण हतप्रभ ब्राह्मणवाद का परिवर्तित संस्करण था। इसमें प्राचीन विधिविधानों और सिद्धांतों की नयी व्याख्याएं प्रस्तुत की गई थीं और धार्मिक कर्मकांडों और यज्ञों ने एक बार फिर से पुनर्गठित सामाजिक महत्व ग्रहण कर लिया था। वंश परंपरा से आए ब्राह्मणों और पुरोहितों ने प्राचीन वर्णाश्रमी सिद्धांतों और कर्मकांडों, मूर्तिपूजा के रीति-रिवाजों, सर्वात्मवाद और गणचिह्नवाद की आर्यपूर्व कबीली परंपराओं को बड़ी चतुरता से एक ही सूत्र में पिरो दिया। सामंतवाद में प्राचीन एकेश्वरवाद को बहुदेववाद से संयुक्त कर दिया गया। अब एक सृष्टिकर्त्ता, पालक और विनाशक के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश जाति ने अपने-अपने देवता और पूजा विधान तय कर लिए। ऊंची जातियों के देवी-देवताओं और नीची जाति के देवी-देवताओं में भी ऊंच-नीच का भेदभाव था।

सामंतीकाल के उत्तरार्द्ध में विविध दार्शनिक प्रणालियों में अनेक परिवर्तन हुए। अलग-अलग मतावलंबी व्याख्याकारों ने अपने-अपने मतानुसार अपने भाष्यों-व्याख्याओं द्वारा प्राचीन मूलग्रंथों में क्षेपण, परिशोधन और परिवर्तन कर उनका रूपांतरण कर दिया। अब उन मूलभूत अवधारणाओं में विरोधाभास दिखाई देने लगा। सांख्य, वैशेपिक और न्याय में भी काफी परिवर्तन हुए। वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, उद्योतकार, वाचस्पति मिश्र, जयंत, व्योमशिव, शिवादित्य, श्रीधर और विज्ञानचक्षु आदि सांख्यसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार हुए। हरिभद्र एक जैन दार्शनिक थे। इस परिवर्तन-प्रक्रिया के अन्तर्गत बौद्ध, जैन, सांख्य, योग, मीमांसा आदि सभी में काफी कुछ जोड़-तोड़ हुआ और अनुयायियों में मतमतांतर इतने प्रखर हो गए कि दर्शनों

में आपस में ही टकराहटें होने लगीं और हरेक में संप्रदाय और उपसंप्रदाय बन गए।

उत्तर सामंत काल में कोई उल्लेखनीय मौलिक और स्वतंत्र दर्शन कृति की रचना नहीं हुई। अधिकांश चिंतक अपने भाष्य लिखने तथा अन्य प्रणालियों पर अपनी टीकाएं लिख कर ही संतुष्ट हो गए। शंकराचार्य तक ने प्रस्थान त्रय अर्थात् ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों और भगवद्गीता पर अपने भाष्यों द्वारा वैदिक विचार धारा को पुनर्स्थापित करने का काम किया। इसके बावजूद इन विचारकों ने भारतीय दर्शन के विकास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अपने भाष्यों द्वारा वास्तव में उन्होंने स्वयं अपने विचारों को दर्शन की मौलिक समस्याओं के समाधान स्वरूप अपना मौलिक योग देकर अभूतपूर्व कार्य किया। उन्होंने पुराने ढांचे में नये चिंतन का समावेश किया। यह क्रिया बौद्ध अवधारणाओं के साथ ही आरंभ हो गई थी।

नवीं से चौदहवीं सदी के बीच भारत की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के उथल-पुथल ने प्रारंभिक दार्शनिक पद्धतियों में जोड़-तोड़ करके उनको अपने अनुकूल रूपांतरित करने का प्रयास किया। नवीं सदी से काफी पहले एक मोटा परिवर्तन तो वर्णव्यवस्था में ही हो गया था। जो वर्णव्यवस्था कर्म के अनुसार बनी थी, वह वंशानुसार हो गई और उसका असर यह हुआ कि अब राजा का चुनाव न होकर वह राजा के घर में पैदा हुआ, उसे उत्तराधिकार में राजा बनने का हक हासिल हो गया अर्थात् सत्ता का हस्तांतरण उत्तराधिकार के रूप में हो गया। इसी तरह ब्राह्मणवाद बपौती बन गया। वैश्य और शूद्र भी वंशानुगत वैश्य और शूद्र हो गए। इसके अलावा प्रत्येक वर्ण जातियों और उपजातियों में विभाजित हो गया तथा अंतर्कलह तथा आपसी लड़ाई-झगड़ों में फँसता चला गया।

इधर दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी संप्रदायों के उपसंप्रदाय और उन उपसंप्रदायों में भी और छोटे उपसंप्रदाय बनते चले गए। वेदान्त में अद्वैत, अद्वैत में विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, और शुद्धाद्वैत हो गए और फिर ब्रह्म या ईश्वर का विभाजन ब्रह्मा, विष्णु, महेश व प्रत्येक के अवतार जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, कपिल तथा और अनेक नामधारी अवतार के रूप में हो गया। आचार्यों, गुरुओं, पीर-पैगंबरों और मौलवियों में भी फिर्के पैदा हो गए। निराकार, साकार, स्वामी, सखा, प्रेयसी, प्रियतम, यार, फकीर, संप्रदायों के ढांचों में ढल गए। बौद्ध में हीनयान और महायान, जैन में दिगंबर, श्वेतांबर, बँटे।

इसी क्रम से प्रभावित सांख्य में पदार्थ और प्रकृति को प्राथमिकता से हटाकर द्वितीयक बनाने की चेष्टा में पुरुष या चेतना तत्व को भगवान के स्तर पर पहुंचाने की कुचेष्टा की गई और योग को रहस्यवाद में ढालने की प्रक्रिया चल पड़ी। बौद्ध और जैन जो वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध विद्रोही बनकर खड़े हुए थे, उन्होंने अपने मठ-मंदिर स्थापित कर अपने कर्मकांड चालू कर दिए तथा साथ ही गरीबों की

भिक्षावृत्ति की विवशता को भिक्षु-भिक्षुणियों, साधु-साध्वियों की गोचरी बना कर उसको धार्मिक क्रिया कर दिया गया। शंकर ने अद्वैत में जहां सृष्टि को भ्रम बताकर आकार मात्र का निषेध कर दिया था, उन्होंने स्वयमेव चारों ओर शंकरपीठ के रूप में मठों की स्थापना कर डाली। हर वर्ण की जातियां और उपजातियों ने अपने-अपने भगवानों, भगवान के अवतारों, देवियों, देवताओं, उपदेवताओं, पीर-पैगंबरों, गुरुओं, महंतों, पुजारियों, पुरोहितों और छोटे-बड़े मंदिरों, मेड़ियों, गुरुद्वारों, मस्जिदों, गिर्जाघरों आदि के बनाते जाने का अनवरत सिलसिला जारी कर मानवसमाज को टुकड़ों और कंकड़ों के रूप में बिखेर दिया। इस बिखराव ने सत्ताधारियों और उनके चाटुकार सिद्धांतकारों को शोषण को अधिकाधिक व्यापक और दमनकारी बनाने का मौका दे दिया। राजा का दर्जा महाराजा, महाराजा का दर्जा सम्राट् या बादशाह और फिर सम्राटों का भी सम्राट् या बादशाहों का बादशाह हो गया। अब वह भगवान का उत्तराधिकारी अर्थात् अवतार हो गया। सारी संपदाओं और अप्सराओं का एकछत्र मालिक।

यहां प्रश्न उठता है कि सत्ता के व्यक्तिपरक केन्द्रीयकरण ने चिंतन को कैसे कुंठित किया? हकीकत यह है कि सर्वशक्तिमान राजा, महाराजा या बादशाह ने समाज की समस्त आर्थिक, शारीरिक, न्यायिक, शैक्षिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और वैचारिक शक्तियों को सेना, पुलिस और माफिया अपराधकर्मियों, जागीरदार, जमींदार और उनके गिरोहों द्वारा आतंकित, शोषित व उत्पीड़ित पंडे-पुरोहितों, मठाधीशों, पुजारियों, मुल्ला-मौलवियों, दस्तकारों, व्यापारियों, चाटुकार कवियों और बुद्धिजीवी शास्त्रकारों आदि सभी को अपने भौतिक और आध्यात्मिक आधिपत्य से इतना भयभीत बिकाऊ और गुलाम बना दिया था कि कहीं कोई सिर उठाने की या स्वतंत्र अभिव्यक्ति की सोच ही नहीं सकता था। आज यह काल्पनिक भयावहता लग सकती है, लेकिन जिन्होंने उस आंतक को जिया है, वे इन पंक्तियों को बहुत कम कहेंगे । राजा किसी का अपहरण करवा कर अपने भोगालय में कैद कर सकता था और पीड़िता को बचाने या न्याय देने वाला कोई कानून नहीं था। भगवान का इतना भय नहीं था जितना राजा की पुलिस का। पुलिस का अदना सिपाही भी किसी विचारक को किसी बहाने से पकड़ कर बूटों से कुचल सकता था, लाठी से उसका सिर फोड़ सकता था और थाने या जेल में ले जा कर उसका कचूमर ही निकाल सकता था। इसलिए सामंतवाद के विकासकाल में राजाशाही के खिलाफ प्रत्यक्ष से कहीं पर स्वतंत्र अभिव्यक्ति नहीं देखी जा सकती थी। इसी आतंकपूर्ण वातावरण ने आमतौर पर चेतना को कुंठित कर दिया था जिसका प्रमाण दर्शन के नवाचार के अवरुद्ध होने में देखा जा सकता है। निराशा - मायूसी - -हताशा, राजभय, दैविक और आध्यात्मिक भय, सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों का भय! आंतक - चारों ओर आतंक,

कुंठा, घुटन दमन!

लेकिन कोई भी व्यवस्थापक, सत्ताधारी या आतंककारी अपनी व्यवस्था, सत्ता या आतंक क्रिया के भीतर पनपने वाले उस अन्तर्विरोध को नहीं पहचानता जो उत्पादक शक्तियों के परिवर्तन के कारण पैदा होता है, पनपता जाता है और पूर्ण परिपक्व होकर एक स्थिति में समूची व्यवस्था को भी बदल देता है। सामंती व्यवस्था का मालिक महाराजा या बादशाह भी उस अन्तर्विरोध को नहीं समझ सका और अपने को अंतहीन या सनातन सत्य मान कर ढोता रहा। कब मूक द्वन्द्व या खामोश बगावत ने अपनी उपस्थिति दर्ज की—इसे वह न भांप सका, क्योंकि वह मदांध हो चुका था, नितांत मूर्ख!

चिंतन के क्षेत्र में तेरहवीं और चौदहवीं सदी में दक्षिण भारत में शैवसंप्रदाय की लोकप्रियता बढ़ रही थी और खास तौर पर लिंगायतों की। उत्तर में वेदांत का प्रभाव था ही। शैवमत के अनुसार यह संसार वास्तविक है, किन्तु यह शक्ति के माध्यम से ईश्वर का रंगमंच मात्र है। इस तरह प्रथम कारण शिव है, शक्ति उपकरण और माया भौतिक कारण। कालांतर में शैव और शाक्तों में विभेदीकरण हो गया जैसे वेदांतियों में हो चुका था। जहां पुरुष देवताओं के मंदिरों में वृद्धि हुई, वहां शक्ति देवी-देवियों के मंदिरों की संख्या भी बढ़ने लगी। शैव और शाक्त वीर पूजक थे। अंधविश्वास भी इतना व्यापक था कि चेचक जैसी बीमारी भी देवी माता के रूप में पूजी जाने लगी, केरल की भगवती, तमिलनाडु की मरियम्मा, तेलुगु देवी मुत्तियम्मा और बंगाल की काली माता या दुर्गा तो प्रसिद्ध देवियां हैं ही। जादू-टोनों, ताड़ी और दारू और रक्त बलिदान से वे प्रसन्न होती हैं।

इधर उत्तर-पश्चिम से इस्लामी प्रभाव बढ़ता चला आ रहा था। मोहम्मद बिन कासिम से लेकर विदेशी आक्रमण हो रहे थे। लूटपाट और बरबादी का सिलसिला चल पड़ा था। उन विजेताओं से आक्रांत बहुसंख्यक भारतीय स्वयं को पराजित, निराश और कुंठित महसूस कर रहे थे।

गरीबी, शोषण, उत्पीड़न, देशी-विदेशी शासकों के अत्याचार, पराजय ग्रंथि, हताशा एक ओर से घेरे हुए थीं तो दूसरी ओर दार्शनिक संप्रदायों, मतमतांरों से उत्पन्न भ्रम और अनिश्चितता तथा वर्णव्यवस्था से उत्पन्न छुआछूत आदि से उत्पन्न बिखराव, शैव-वैष्णवों आदि के टकराव आदि ने टूटनें-दर टूटनें पैदा कर दी थीं। ऊंच-नीच का भेदभाव स्वामी वर्ग में भी था। सैयद और शेख अरब से आए थे, मुगल तुर्की से और पठान अफगनिस्तान से। इस तरह भारत गरीबों-अमीरों, संप्रदायों-उपसंप्रदायों, जातियों-उपजातियों, विजेताओं-पराजितों, मतों-मतांतरों, रूढ़ियों-परंपराओं, दार्शनिक शाखाओं-प्रशाखाओं और मारकाट, लड़ाई-झगड़ों का अड्डा बन गया था। ऐसे ही वातावरण में सूफियाना रहस्यवाद और भक्तों का भक्ति आंदोलन नितांत भिन्न तेवर

लेकर सामने आए ।

सूफियों और भक्तों के आन्दोलन में निम्नांकित सामान्य लक्षण हैं—

1. ईश्वर के प्रति ही अनन्य प्रेम, आस्था और भक्ति है, फिर भी इसकी जड़ किसी न किसी धर्मभूमि में पहुंची हुई है।
2. प्रेम और भक्ति आत्मा-परमात्मा के एकत्व के रूप में, स्वामी-सेवक के रूप में, प्रियतम-प्रियतमा के रूप में, आशिक-माशूका के रूप में, पति-पत्नी के रूप में, मूर्त्त-अमूर्त्त के रूप में या अन्य किसी प्रकार के प्रेमबंधन के रूप में संभव है।
3. भक्ति आन्दोलन वर्णव्यस्था और ऊंच-नीच, जातिभेद या नस्लवाद के बंधन को स्वीकार नहीं करता।
4. भक्ति आन्दोलन सत्ता की चाटुकारिता को अस्वीकार करता है। उसके लिए राजा-बादशाह उपेक्षणीय है। भक्त अपनी रोटी-रोजी का जुगाड़ अपनी मेहनत से करता है, जैसे जुलाहे का काम, नाई का धंधा, तेली का काम आदि
5. भक्त वैराग्य में विश्वास करने के कारण संसार और परिवार की मोह-माया को तिरस्कृत करता है। वह ऐशो आराम के हर प्रकार को ठुकराता है।
6. वह भगवत् भजन, भक्ति संगीत, भक्ति में लीन नृत्य, ध्यान धारणा, योग साधना आदि में संलग्न रहता है।
7. वह निष्काम साधना में लगा रहता है।
8. वह निराकार और साकार दोनों प्रकार के भगवान को समादर की दृष्टि से देखते हुए किसी एक की भक्ति में निमग्न हो सकता है।
9. भक्त पाखंड और वनावटीपन से दूर रहता है। वह सहज और सरल स्वभाव और उदार प्रकृति का महान् व्यक्ति होता है। वह पुरोहिती कर्मकांडों या मुल्ला-मौलवियों के आचार बंधनों का दृढ़ता से विरोध करता है, इसलिए सारे कट्टरपंथी उसके दुश्मन बन जाते हैं।
10. वह प्राय: ऊंचे दर्जे का कवि, गीतकार, संवेदनशील, अहंकार रहित और विचारक होता है।
11. वह रूप, रस, गंध और स्पर्श के प्रति अनासक्त होता है। वह भगवान में तल्लीन रहता है अर्थात् भगवान को जीता है।
12. वह अपने गुरु के प्रति उतना ही श्रद्धालु होता है जितना भगवान के प्रति, फर्क इतना है कि भगवान के प्रति तल्लीनता केवल उसी के प्रति होती है, गुरु के प्रति भी नहीं। गुरु को भक्ति के लिए प्रेरणास्रोत माना जाता है।
13. भगवान भक्त को स्वयं से बड़ा या समकक्ष मानता है, अत: भक्त को संरक्षण देने के लिए वह स्वयं उत्तरदायित्व ग्रहण करता है।

14. भक्त और भगवान का प्रेम निरवयव होते हुए भी अटूट होता है, क्योंकि दोनों में से कोई भी विश्वासघात नहीं करता या कोई किसी को छोड़ कर दूसरे से प्रेम नहीं करता।
15. भक्ति के वशीभूत भक्त हर प्रकार की आपत्ति को सहन करता है, यहां तक कि वह भक्ति मार्ग में अपने जीवन का उत्सर्ग भी कर सकता है।
16. उसमें संकल्पबद्धता होती है, एक दृढ़ता जो दूसरों को अक्खड़पन के रूप में दिखाई देती है, वह संशयात्मा नहीं होता, अतः उसमें डगमगाने की स्थिति नहीं होती। वह स्थितप्रज्ञ होता है। उसकी भक्ति को किसी तर्क से नहीं काटा जा सकता। उसे सत्य, त्याग और नैतिकता के पालन से विचलित नहीं किया जा सकता।
17. भक्ति में लिंगभेद नहीं होता। स्त्री और वेश्या भी भक्तिमार्ग अपना सकती है। भक्ति में अपंगता, कुरूपता, अस्पृश्यता आदि बाधक नहीं होतीं। भक्ति में अनपढ़ भी विद्वान का गुरु या प्रेरक हो सकता है। इसी तरह शूद्र भी ब्राह्मण का गुरु हो सकता है, स्त्री पुरुष द्वारा गुरु मानी जा सकती है और वह पुरुष भक्त की शिष्या बनकर प्रेरणा भी प्राप्त कर सकती है। लेकिन ऐसी हालत में आसक्ति या शारीरिक संलग्नता अपेक्षित नहीं होती।
18. भक्ति आन्दोलन स्वतंत्रता संघर्षों का समर्थक या उसका सहभागी हो सकता है।
19. पारिवारिक व्यक्ति भी भक्ति मार्ग में प्रवृत्त हो सकता है, इसी प्रकार अपने रोजगार का काम करते हुए भी कोई व्यक्ति भक्त हो सकता है।
20. भगवान की भक्ति की तरह गुरु भक्ति भी उतनी ही सम्माननीय होती है।
21. भक्ति साधन भी होता है तो साध्य भी बनता है, इसके लिए अनिवार्यता केवल आस्था की ही होती है।
22. भक्त और सूफी सामंतवाद और सामंती तौर-तरीकों के विरोधी थे। वे गरीबों के पक्षधर थे और गरीबी को अपनाते थे।

सूफियों में इमाम गजाली (1056 ई.-1111 ई.) एक ऐसे प्रभावशाली विद्वान थे, जिन्होंने न केवल खुलकर सूफी मत का पक्षपोषण ही किया, अपितु उसे सुव्यवस्थित रूप से लेखबद्ध भी किया। इसके पश्चात् सूफी मत मुल्लाओं के डर से मुक्त होकर सबके लिए ग्राह्य हो गया। गजाली ने बताया कि सूफी मत ज्ञान और व्यवहार का मेल होता है। कुरान की शरीअत के भक्तिमार्ग और सूफीमत में यह अन्तर है कि जहां शरीअत में ज्ञान के बाद आचरण आता है, वहां सूफीमत में आचरण के बाद ज्ञान का स्थान है।

इब्न-अल-अरबी (1165 ई.-1240 ई)—एक प्रमुख सूफी विचारक थे।

उनके अनुसार सृष्टि और सृष्टा अभिन्न हैं। बाह्य रचना की भिन्नताएं एक ही सत्य की अभिव्यक्ति हैं। इस सिद्धांत को 'वहदतुल वजूद' कहते हैं। इन्होंने अनेक इस्लामी शिक्षाओं को पुनः परिभाषित कर उन्हें परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाया। उन्होंने कहा कि खुदा के अलावा और कुछ भी नहीं है, खुदा ही सब जगह है। इस तरह उन्होंने खुदा में सब के अस्तित्व को समेट कर ऊंच-नीच, जात-पांत के बिना सबसे एकसमान मोहब्बत करने की प्रेरणा दी। कट्टरपंथी उलेमा उनके इन उदार विचारों के खिलाफ कमर कस कर सामने आ गए।

बारहवीं से सोलहवीं सदी के बीच कितने ही सूफी पंथों की स्थापना हो गई। इनमें चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी, शत्तारी और नक्शबंदी पंथ सबसे ज्यादा प्रभावशाली थे। इन्हीं को जनता का सर्वाधिक समर्थन प्राप्त था। शेख निजामुद्दीन औलिया चिश्ती पंथ के बहुत बड़े संत थे। चिश्ती पंथ की स्थापना ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती ने अजमेर में की थी। उन्होंने अपना सारा जीवन लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने में ही समर्पित कर दिया। निजामुद्दीन औलिया के अनुसार त्याग का अर्थ लंगोटी बांध कर बैठ जाना नहीं है, बल्कि यह है कि जरूरत से ज्यादा या जरूरत के अलावा किसी तरह की दौलत पास न रखना, किसी से छीना-झपटी न करना और इतना ही नहीं, बल्कि किसी वस्तु में आसक्ति भी न रखना।

जुन्नून का कहना है कि "सूफी वे होते है, जिन्होंने सब कुछ छोड़ कर ईश्वर को अपना लिया है।" जनीद मानते हैं कि सूफियों का जीवन-मरण ईश्वर के लिए समर्पित होता है। अबुबक्र सूफियों को पूरी तरह सदाचारी बताते हैं। मंसूर उस व्यक्ति को सूफी मानते हैं जिसे कोई दूसरा पसंद नहीं करता और वह भी किसी और को पसंद नहीं करता। रोयम के मुताबिक सूफी वह होता है जो अपने आप को ईश्वर में समर्पित कर दे। जबकि शहाबुद्दीन सुहरावर्दी कहते है कि "सूफी उसे समझा जा सकता है जिसमें पवित्र जीवन, त्याग और सद्गुण का सम्मिश्रण हो।"

वैसे सूफीवाद पर नव अफलातूनी रहस्यवाद और भारत के वेदांत और योग का मिला-जुला प्रभाव परिलक्षित होता है। वेदांत में भी विशेषतः आत्मा-परमात्मा के एकल का बाहुल्य है—अहं ब्रह्मास्मि का। यहां जीव ब्रह्म का ही अंश है, उसका लक्ष्य है ब्रह्म में लीन हो जाना। यह जगत भी ब्रह्म से अलग नहीं, सूफीवाद और शंकर के अद्वैतवाद में अंतर नहीं दिखाई देता। सूफी जीवात्मा और परमात्मा में प्रेम संबंध (इश्क) को सर्वाधिक महत्व देते हैं। यह इश्क आध्यात्मिक स्तर का होता है—जैसा जायसी और कबीर के काव्य में पाया जाता है।

सूफी संत वैरागी होकर पारिवारिक बंधनों को तोड़ देते हैं, साथ ही अपरिग्रही भी होते हैं। वे एकांतवासी होकर ध्यानमग्न होने का अभ्यास करते हैं। वे अल्ला का जाप करते हैं किन्तु मन में ही, क्योंकि जीभ का काम लेने पर ध्यान के विचलन को

आशंका रहती है। यहां मन के जाप और ध्यान की एकाग्रता में इतनी तल्लीनता का होना आवश्यक माना जाता है कि आत्मा की परमात्मा में सम्पूर्णतया विलय होने की स्थिति उत्पन्न हो जाए। इस तरह की एकमेकता होने पर मुकाशफ़ा की स्थिति प्राप्त होती है। मुकाशफ़ा उस स्थिति को कहते हैं जिसमें वे सब हालात प्रत्यक्ष होने लगते हैं जिनको अभी तक पारंपरिक रूप से मानते रहे थे। ये हैं—पैगम्बर, आकाश ध्वनि (ईश्वरीय आदेश), फरिश्ते, शैतान, स्वर्ग, नर्क, कब्र की यातना, पाप-पुण्य का हिसाब और न्याय का दिन आदि। मुकाशफ़ा अर्थात् प्रत्यक्षण की सूचना पहले से उस तरह मिल जाती है जैसे एकाएक बिजली चमकी हो और फिर उसकी वह चमक धीरे-धीरे ठहरी हुई चमक बनकर स्थिर दिखाई देती हो।

सूफीमत और भक्तियोग ने एक दूसरे को प्रभावित किया और दोनों ने मिलकर सामंती तानाशाही व धार्मिक और सांप्रदायिक कट्टरतावाद के खिलाफ दृढ़तापूर्वक संघर्ष की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिका अदा की।

भक्ति आन्दोलन का मूल स्रोत वेदान्त दर्शन है जिसमें विशेष रूप से रामानुज और उनके शिष्य रामानंद की चिंतनधारा की महत्वपूर्ण भूमिका है। रामानन्द के शिष्यों में कबीर जुलाहा, रैदास चमार, धर्मदास जाट और सेना एक नाई थे। अर्थात् भक्ति आन्दोलन में सभी जातियों के संतों का योगदान था। वैचारिक तौर पर भक्ति आंदोलन में समाहित अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत और सूफीमत आदि सभी ईश्वरवादी प्रणालियों के गहरे और समन्वित प्रभाव को रेखांकित किया जा सकता है, फिर भी इसमें पाखंडपूर्ण कर्मकाण्ड, सामंती विलासिता व कामुकता, राजाशाही की चाटुकारिता और धनसंग्रह के विरुद्ध संघर्ष की अभिव्यक्ति के तेवर इसकी पहचान को विशेषता प्रदान करते हैं। भक्ति आन्दोलन में एक ओर दार्शनिक गहराई है, तो साथ ही प्रेम का एक अनवरत प्रवाह भी। यह एक ऐसा प्रवेश द्वार है जिसमें पैर रखने से पहले कबीर की तरह सिर को हथेली पर रखना पड़ता है—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं,
सीस उतारै, भुई धरै, सो पैसे घर माहिं। (कबीर)
अथवा मेरे साथ वह चला आये, जो—
हम घर जाल्या आपणा, लिया मुराड़ा हाथ,
अब घर जालौं तास का जो चलै हमारे साथ। (कबीर)

(अर्थात् मैंने मशाल हाथ में लेकर अपना घर जला दिया है, अब मैं उसका घर जलाऊंगा जो मेरे साथ चलेगा।)

जुलाहे कबीर के पास वह आए जिसकी मान्यता हो— 'जात पांत पूछै ना कोई' या जो हिन्दू-मुसलमानों के संवेदनशून्य पाखंडी कर्मकांड को ठुकरा सके। वह कष्टों का मुकाबला करने में चट्टान की तरह खड़ा रहे—

डगमग छांडि दे मन बौरा, जगमग छांडि दे मन बौरा।

अब कै बरै जरै बनि आवै, लीनौ हाथ सिंधौरा॥

(अर्थात् इस राह में डगमगाना नहीं है, ऐ बावले मन, दुनियादारी छोड़ दे। अबकी बार तुझे जलना ही पड़ेगा, क्योंकि तू ने हाथ में जलता अंगारा (प्रेम-भक्ति का बलिदानी मार्ग) ले रखा है और फिर एक स्थिति यह भी है—

प्रीति जो लागी घुल गई, पैठ गई मन मांहि।

रोम-रोम 'पिउ-पिउ' कहै, मुख की सरधा नांहि॥ (कबीर की उलटबांसी)

('प्रिय-प्रिय' की पुकार तो रोएं-रोएं से आ रही है, जो सुनाई नहीं देती, क्योंकि मुंह में बोलने की स्थिति (सामर्थ्य) ही नहीं रही। यहां कबीर का सूफ़ियाना अंदाज है।)

सूरदास माया और ब्रह्म के द्वन्द्व से ऊब कर अनन्य भाव से कृष्ण को समर्पित हैं—

प्रभु, मोरे अवगुण चित न धरौ

''इक माया, एक ब्रह्म कहावत, सूर स्याम झगरौ,

अबकि बेर मोहिं पार उतारौ, नहिं पन जात टरौ। (सूर)

किन्तु सूरदास किसी बादशाह के आगे कभी नहीं झुकेगा क्योंकि-

''जाको मुख देखें दुख उपजत, ताको करिबै परी सलाम

संतन का सिकरी सन काम।''

तुलसीदास मीरां को सलाह देते हैं कि भगवान से प्रेम करना है तो अपने सारे पारिवारिक नाते तोड़ने ही होंगे—

जा के प्रिय न राम वैदेही

तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही।

नाते नेह राम ते मनियत, सुहृदय सुसेव्य जहां लौ

अंजन कहा आंख जेहि फूटै, बहु तक कहौं कहां लौं। (तुलसी)

और 'रामचरित मानस' का वह कवि भीख मांगना और मस्जिद के चबूतरे पर सोना मंजूर कर लेगा, किन्तु किसी राजा, बादशाह या दौलतमंद को स्वीकार नहीं करेगा—

'मांग के खाइबौ, मसीत को सोइबौ, लेने को एक न देने का दोइबौ' (तुलसी)

भक्ति आन्दोलन के रंग में जितने हिन्दू रंजित थे, उतने ही मुसलमान भी। मलिक मुहम्मद जायसी, रसखान और रहीम आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। कृष्ण भक्ति शाखा के प्रसिद्ध कवि रसखान कृष्ण के हाथ में थमी गाय हांकने वाली लकड़ी और कंधे पर रखी कंबल पर संसार की सारी संपदाएँ और तीनों लोकों का राज न्यौछावर करने कौ तैयार हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिंहू पुर को तजि डारौं
आठहुं सिद्धि नवौं निधि कौ सुख, नंद की गाय चराय बिसारौं
रसखानि कबौं इन नैनन सौं, ब्रज के वनबाग तड़ाग निहारौं
कोटिक लौं कलधौत के धाम, करील की कुंजन वारौं। (रसखान)
या
"त्यौं रसखानि वही रसखानि, जु है रसखानि सो है रसखानि।"
यह है रसखान का रसखान (कृष्ण) में विलीनीकरण—अद्वैतत्व।

भक्त कवियों में मीरां की एक अलग पहचान है। वह महलों में रहने वाली महारानी, कृष्ण के प्रेम में दर्द दीवानी होकर राणाशाही के खिलाफ बागी बनकर सर्वस्व त्याग देती है। राजघराने की मर्यादा और 'लोकलाज' को ठुकरा कर गिरधर को समर्पित हो जाती है—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई
तात मात भ्रात बन्धु आपणौ न कोई
छांडि दई कुल की कानि कहा करिहै कोई
संतन डिग बैठि बैठि लोक लाज खोई
अंसुवन जल सींच सींच प्रेम बेल बोई
अब तो बेल फैल गई आणंद फल होई

क्या कर लेगा राणा—"राणाजी म्हारौ कांई करसी?"—यह थी उसकी चुनौती, "वह अपना राजपाट अपने पास रखे, मुझे कोई परवाह नहीं।"

अकबर के रत्नों में से एक ने जब सबकुछ छोड़कर भीख मांगना स्वीकार कर लिया, तो अब वह रहीम खानखाना फकीर बन चुका था—

अब रहीम दर दर फिरै, मांग मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छोड़ दो, वो रहीम अब नाहिं॥

राजा सांवत सिंह भगवत प्रेम में गद्दी छोड़कर 'नागरीदास' बन जाता है—

जहां कलह तहां सुख नहीं, कलह सुखनि को सूल
सबै कलह इक राज में, राज कलह को मूल। (राजा नागरीदास—
पूर्वनाम सांवत सिंह)

"जगत रीत कछु और है, भगति रीत कछु और" (नागरीदास)

दादू भी राजस्थान के धुनकर थे और प्रसिद्ध भक्त कवि संत नानक देव ने व्यापार का धंधा छोड़कर सिख पंथ की गुरु परंपरा की स्थापना की। मराठा कवि नामदेव दर्जी थे और तुकाराम भी व्यापार घराने के थे। चैतन्य बंगाल के गरीब परिवार में पैदा हुए थे तो आंध्र के सुप्रसिद्ध कवि वेमन्ना निरक्षर किसान थे। तुचथ एलुत्तच्छन

जो महान् मलयाली साहित्यकार थे, तेली परिवार से थे।

अतः कहा जा सकता है कि भक्ति आन्दोलन में जहां एक ओर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की सभी जातियों और उपजातियों का सांझा मोर्चा है, वहां साथ ही स्त्रियों और उनमें भी मीरां जैसी उस रानी और नागरीदास जैसे उस राजा की महत्वपूर्ण भूमिका भी है जो राजपरिवारों को त्याग कर सामंती ऐशोआराम के विरुद्ध आ खड़े हुए थे। इसके अतिरिक्त यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं था कि इस आन्दोलन के सूत्रधारों में हिन्दू और मुसलमान, संत और फकीर हाथ से हाथ मिलाकर संघर्षरत हो गए थे। भक्ति आन्दोलन जनसाधारण की दबी-कुचली भावनाओं को अभिव्यक्त करता था। एक निहत्था अपितु अहिंसक आन्दोलन जिसकी एक परिणिति हमें संन्यासियों द्वारा किए गए विद्रोह और स्वतंत्रता संग्राम में महात्मा गांधी के असहयोग सत्याग्रह तथा उससे भी आगे बढ़कर 'करो या मरो' तक देखने को मिलती है।

के. दामोदरन ने 'भारतीय चिंतन परंपरा' (328) में भक्ति आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के विषय में लिखा है— "भक्ति आंदोलन उस समय आरंभ हुआ था, जब हिन्दू और मुसलमान पुरोहितों और उनके द्वारा समर्थित और समृद्ध किए गए निहित स्वार्थों के खिलाफ एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया था। जनता को, जो अब तक क्षेत्रीय और स्थानीय निष्ठाओं से आबद्ध थी और युगों पुराने अंधविश्वास और दमन-शोषण के बावजूद हतोत्साहित नहीं हुई थी, जगाया जाना और अपने हितों तथा आत्मसम्मान की भावना के लिए उसे एक किया जाना अवश्यक था। स्थानीय बोलियों और क्षेत्रीय भाषाओं को, एकता स्थापित करने वाली राष्ट्रभाषाओं के स्तर पर उठाना था। भक्ति आंदोलन के नेताओं को ये ही कुछ काम करने थे। -'सारतः वह भारत में उस समय में मौजूद सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की उपज था।"

अज्ञेय और रहस्यवादी ईश्वर को गंगनमंडल से जनजीवन के धरातल पर उतारने की भूमिका अदा करके भक्ति आंदोलन ने दर्शन के इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय रच डाला। अब बादशाहों के इस शहंशाह ने (भक्तमय भगवान ने) यहां के बादशाहों की बादशाहियत पर तिरस्कारभरी ठोकरें मारना चालू कर दिया। अब वह अट्टालिकाओं के राजाओं को छोड़कर झोंपड़ियों के भक्तों की शरण में आ गया। 'अछेद अभेद' वह ग्वालों की छोरियों के नचाने से नाचने लगा। बाल सुलभ चोरी करने लगा और लाजवाब हो गया। भक्ति आंदोलन ने दो सौ साल की अपनी हरकतों से उसको जनाधिकृत कर दिया है। भक्ति आंदोलन ने उसे पंडों-मुल्लाओं की कैद से रिहा कर दिया है। अब उसका उपयोग असहयोग आंदोलनों में भी किया जा सकता है। सारे दर्शनों को निचोड़ कर जो आवाज निकली वह थी—"संघर्ष करो, पलायन नहीं, संघर्ष करो!"

भक्ति आंदोलन ने दर्शन की जटिलता का सरलीकरण कर समझा दिया कि सृष्टि पांच तत्वों का मेल है तो यह शरीर का पिंजरा भी पांच तत्व का बना है। हर भारतीय 'पिंडे ब्रह्मांडे' समझने लगा ।'' आत्मा सो परमात्मा। सोहं।'''' भूखे भजन न होहिं गोपाला, अर्थात् जो गूढ़ ज्ञान शास्त्रीयता में बांधकर एक भयावह रहस्य बना दिया गया था—जिस पर उच्चवर्ण का एकाधिपत्य हो गया था, वह सीधी सरल खिचड़ी भाषा में 'लोकोक्तियों' के रूप में साधारण ग्रामीण का कंठस्वर बन गया। ''का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहियत सांच'' कहकर तुलसी ने पंडिताऊ कट्टरता पर तमाचा जड़ दिया। सांख्य ने जिसे ''तर्के ईश्वरः असिद्ध'' कहा तथा शायर ने ''फलसफी को बहस के अंदर खुदा मिलता नहीं'' कह मारा उसे किसी ने ''पंडित वाद वदंते झूठा' कह कर समझा दिया।

दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि सूफियों और भक्तों के साहित्य में सारी ही पूर्व दार्शनिक प्रणालियों की गहराइयां अन्तर्निहित हैं और वे भी अपनी स्वायत्तता लिए हुए। यहां संस्कृतादि प्राचीन भाषाओं तथा अन्यान्य बोलियों और भाषाओं की गंभीरता को संरक्षित करते हुए उन्हें आंचलिक बोलियों, क्षेत्रीय भाषाओं तथा अन्यान्य बोलियों और भाषाओं के सहज सम्मिश्रण से जहां दर्शन को रूपांतरित, परिवर्तित और नवाचरित किया गया है, और इस सुदीर्घ प्रक्रिया ने भक्ति को दर्शन का अंग बना दिया, वहां हिन्दी और उर्दू के रूप में दो जनभाषाओं का उद्‌भव भी किया। राष्ट्रभाषा इन दोनों जनभाषाओं, सगी बहनों का सहमेल है जिसे गांधी युग 'हिन्दुस्तानी' कहता है। भक्ति आंदोलन ने यदि एक यही कार्य किया होता कि उसने एक राष्ट्र को एकीकृत नयी भाषा का आदि स्वरूप दिया, तो भी कम महत्वपूर्ण नहीं होता। सारे भक्ति साहित्य का गहन अध्ययन करने पर लगेगा कि यह एक नया स्वयंभू वाद प्रतिवाद और वादानुवाद है।

भक्ति धर्म नहीं है और न ही वह कर्मकांड है। उसमें किसी ईश्वर विशेष का अनुशासन या बंधन नहीं है। उसमें आस्था है, किन्तु अंधी नहीं। उसमें जाति और सांप्रदायिकता नहीं। गरीबों के प्रति प्रेम, मानवता उसका मूल है। उसमें संन्यासी का वेश अनिवार्य नहीं, पर सर्वोच्च त्याग है। भक्त की न कोई जाति होती है और न कोई मजहब। भक्त मुँहफट होकर शहंशाह को फटकार कर मौत को गले लगा सकता है। भक्ति मोक्ष भी है और मोक्ष का मार्ग भी। दर्शन की तरह भक्ति भी एक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है। स्वयं में भक्ति एक क्रियात्मक दर्शन है, जिसकी पृष्ठभूमि जिसमें तत्वज्ञान की मीमांसकता है, तो उसके अन्तर्य्य में गतिशील आस्था भी। वह संवेदनात्मक दर्शन है, जिसके सारे तर्क और जिसकी सारी युक्तियां धर्म के नाम पर किए जाने वाले सामाजिक उत्पीड़न का प्रतिषेध करती हैं। किन्तु उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह वैज्ञानिक प्रमाण विधि, प्रकृति की प्राथमिकता, प्रतिषेध के प्रतिषेध तथा

द्वन्द्वात्मक उपयोग

18वीं और 19वीं सदी के दौरान भारतीय उपमहाद्वीप के विराट क्षेत्र पर अंग्रेज उपनिवेशवादियों ने पूरा आधिपत्य स्थापित कर लिया था। भारत की सीधे लूट से आरंभ करके अंग्रेज आक्रामकों ने धीरे-धीरे इसे ब्रिटेन का एक कृषि व कच्चे माल के संस्थापित भाग में बदल दिया--पहले उनके बने-बनाए मालों के लिए बाजार के रूप में, फिर कच्चे माल व खाद्य-सामग्री के स्रोत के रूप में; इस प्रकार भारत विश्व बाजार के घेरे में घसीट लिया गया। उपनिवेशवाद ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर अनेक बोझ लाद दिए। ब्रिटेन में निर्मित अपेक्षाकृत सस्ते माल के आगमन के फलस्वरूप भारतीय हस्तशिल्प कला की अनेक परंपरागत शाखाएँ नष्ट हो गईं तथा हजारों शिल्पकार बर्बाद हो गए। अंग्रेज सत्ता ने भारत में व्यक्तिगत भूस्वामित्व की संस्था का आरंभ किया। इससे पहली बार भूमि खरीद-फरोख्त की वस्तु बन गई। किसानों को करों से बेतहाशा लाद करके बर्बाद कर दिया गया। इंग्लैण्ड ने भारत के सारे ढांचे को तोड़ कर सब कुछ लूट लिया, इतना ही नहीं, उसने हर तरह से भारतीय जन-जीवन, समाज और चेतना के विकास को अवरुद्ध और कुंठित करने के लिए षड्यंत्रकारी परिस्थितियां पैदा कर दीं। आम तौर पर पराजय और निराशा का वातावरण पैदा होने लगा। भीतर से भारतीय समाज गरीबी, जातिवाद, सांप्रदायिकता, रूढ़िग्रस्तता (मूर्तिपूजा, बालविवाह, बालहत्या, सतीप्रथा आदि के रूप में), अंधविश्वास, मंत्रतंत्र, जादूटोना, देववाद, भाग्यवाद, अशिक्षा, सामाजिक बिखराव एवं शारीरिक और मानसिक बीमारियों से त्रस्त था। सन् 1853 में कार्ल मार्क्स ने अपने लेख 'ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में लिखा--

''यह कैसे हुआ कि भारत के ऊपर अंग्रेजों का आधिपत्य कायम हो गया? (मार्क्स पूछते हैं और स्वयं ही उत्तर देते हैं) महान् मुगल की सत्ता को मुगल सूबेदारों ने तोड़ दिया था। सूबेदारों की शक्ति को मराठों ने नष्ट कर दिया था। मराठों की ताकत को अफगानों ने खत्म किया, और जब सब एक दूसरे से लड़ने में लगे हुए थे, तब

अंग्रेज घुस आये और उन सबको कुचल कर खुद स्वामी बन बैठे। एक देश जो न सिर्फ मुसलमानों और हिन्दुओं, बल्कि कबीले-कबीले और वर्ण-वर्ण में बंटा हुआ हो; एक समाज, जिसका ढांचा उसके तमाम सदस्यों के पारस्परिक विरोधों और वैधानिक अलगावों पर आधारित हो—ऐसा देश और ऐसा समाज क्या दूसरों द्वारा विजित होने के लिए ही *अभिशप्त नहीं था?"*

लेकिन 18वीं शताब्दी मध्य अर्थात सन् 1757 से लेकर 19वीं सदी के मध्य अर्थात् 1857 तक के 100 सालों के बीच भारतीयों ने अपने आक्रोश का इजहार स्वतंत्रता संग्राम की अनेक मंजिलों के रूप में किया। पलासी का युद्ध, बंगाल में संन्यासी विद्रोह; बरेली, सहारनपुर, दिल्ली, मेरठ, मुरादाबाद व दूसरे स्थानों में किए गए किसान विद्रोह। फिर पूना में रामसो विद्रोह, कोल संघर्ष, नील के खेतिहरों का संघर्ष, सावन्तवाड़ी विद्रोह,केरल में किसान विद्रोह, संथाल विद्रोह और अंततः सन् 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम हुआ। इन संघर्षों और प्रथम सशस्त्र, संग्राम की *बदौलत प्राप्त कटु अनुभवों ने बिखराव को भाईचारे में, क्षेत्रीयताओं को राष्ट्रीयता में,* निराशाओं को आशा-अकांक्षाओं में परिवर्तित कर दिया। समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए सामाजिक सुधारों की चेतना पैदा हुई। अब उपनिवेशवाद के खिलाफ सांगठनिक और वैचारिक संघर्षों को तीव्र करने की आवश्यकता महसूस होने लगी। यह जनचेतना को विकसित करने के लिए उचित माहौल था। दूसरी ओर पश्चिमी विचारों का प्रभाव भी फैलता जा रहा था। इस तरह पुनर्जागरण की एक लहर चल पड़ी थी। इसके अग्रगामी व्यक्तियों में राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद और अगले स्वतंत्रता संग्राम के नेता जिनमें बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर और जवाहरलाल नेहरू *आदि प्रमुख थे।* समाजशास्त्रीय और दार्शनिक विचारधाराओं का एक अनुपम संगम दिखाई देने लगा, जिसमें चिंतन की गहराइयां भी थीं तो चेतना की ऊर्जस्विता भी।

उपर्युक्त अवधि अर्थात् 18वीं से 20वीं सदी के तीन सौ सालों की समयावधि की विचारधाराओं को निम्नांकित श्रेणियों में देखा जा सकता है—

(1) *पुनरोत्थानवादी चिंतन*

(2) गांधीवाद

(3) मार्क्सवाद

पुनरोत्थानवादी चिंतन

राजा राममोहन राय (1774-1833) भारत में उस राष्ट्रीय आंदोलन के अग्रदूत थे, जो भारतीय सामंतवाद पर ब्रिटिश पूंजीवाद की विजय के पश्चात् एक अनिवार्य शर्त के रूप में उभर रहा था। राय संस्कृत, बंगला, अरबी, फारसी और अंग्रेजी के महान् विद्वान, बंगला गद्य के पुरोधा रचनाकार, आलोचक और दार्शनिक चिंतक

थे।

राय वेदांत के अनुयायी, विशेषत: वस्तुनिष्ठ आदर्शवादी थे। वे रामानुज की विशिष्टाद्वैत की परंपरा के आधुनिक संस्करण थे। राय के अनुसार हम एक सत्ता की ओर आसक्त होते हैं, जो परम सत्ता से उद्भूत है। अणुमय पदार्थ नित्य है और यह परम सत्ता के संकल्प के अनुसार विभिन्न स्थान व काल में विविध आकार ग्रहण करता है।

राममोहन राय ने अपने दार्शनिक चिंतन को समाज के पुनर्जागरण की दिशा में मोड़ देकर उसका अत्यंत महत्वपूर्ण उपयोग किया। सन् 1828 में उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। ब्रह्मसमाज ने प्रगतिशील व्यक्तियों में एकता स्थापित करने, सांस्कृतिक स्तर को ऊंचा उठाने, सती प्रथा का उन्मूलन करने, मूर्ति पूजा का खंडन करने, अन्तर्जातीय विवाहों को स्वीकृति प्रदान कराने और जातिगत भेदभाव को मिटाने की दिशा में सफल भूमिका अदा की। राय के विचारों को विकसित किया दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद व अरविन्द घोष आदि ने। जबकि उनका विरोध करने के लिए रूढ़िवादी हिन्दू धर्म के अनुयायियों ने धर्मसभा की स्थापना की जिसका उद्देश्य था अप्रचलित धार्मिक अनुष्ठानों और सामाजिक परंपराओं का पुनर्स्थापन।

ब्रह्मसमाज के कार्यक्रम को आगे बढ़ाया देवेन्द्रनाथ टैगोर ने जो रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता थे। 'यंग-बंगाल' नामक नवयुवकों की एक प्रगतिशील संस्था ने भी विचार स्वातंत्र्य का प्रसार किया, जिसमें बन्द्योपाध्याय, रामगोपाल घोष तथा भासक प्रमुख थे। एक पुर्तगाली व्यापारी और भारतीय महिला के पुत्र हेनरी डेरोजिओ (1809-1839) भी 'यंग बंगाल' के वैचारिक नेता थे। वे कॉलेज के शिक्षक थे और भौतिकवादी चिंतक। वे ईसाई रूढ़िवाद के विरोधी थे।

दयानंद सरस्वती (1824-1883) ने सन् 1875 में आर्यसमाज की स्थापना की। उन्होंने 'सत्यप्रकाश' नामक पुस्तक में यह धारणा प्रकट की कि ईश्वर ब्रह्मांड का निमित्त कारण है तथा इसका उपादान कारण प्रकृति है। ब्रह्म या ईश्वर, आत्मन् तथा पदार्थ (प्रकृति) को तीन स्वतंत्र द्रव्य बताकर दयानंद ने वेदांत के अद्वैतवाद की आलोचना की। उन्होंने संशयवाद की भी आलोचना की। उन्होंने आकाश और काल को स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया। दयानंद के अनुसार संज्ञान तीन प्रकार से होता है—इन्द्रियों द्वारा, मनस द्वारा और आत्मा द्वारा। व्यक्ति की आंतरिक आत्मा सत्य व असत्य की ज्ञाता है। असत्य ज्ञान में मिथ्यात्व या त्रुटि की उपस्थिति है, न कि ज्ञान की अनुपस्थिति।

दार्शनिक स्तर पर देखा जाय तो दयानंद सरस्वती सांख्य और वेदांत के द्वन्द्व में उलझते हुए दिखाई दे रहे हैं। लेकिन निष्कर्षत: वे 'वेदों की ओर लौट चलो' का आह्वान करते हुए ईसाई और इस्लाम धर्म के विरोध मे खड़े हो गए। उनकी सबसे

बड़ी देन यह है कि उन्होंने बहुदेववाद की निन्दा करते हुए मूर्ति-पूजा का निषेध किया, जातिगत बंधनों को तोड़ा, बालविवाह, पर्दाप्रथा, निरक्षरता, छुआछूत और अन्य अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों का दृढ़तापूर्वक और सक्रिय विरोध किया। आर्यसमाज ने विधवा विवाह और अन्तर्जातीय विवाह कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में दयानंद और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने क्रान्तिकारी प्रभाव पैदा किया। राष्ट्रीय एकता में यह एक बहुत बड़ा योगदान था। वेदोन्मुख होते हुए भी आर्यसमाज ने समाज सुधार की अपनी ऊर्जा की बदौलत भारतीय इतिहास में विशेष स्थान प्राप्त कर लिया।

सैयद अहमद खां (1817-1898) मुस्लिम समुदाय के पुनर्जागरण के पुरोधा थे। उन्होंने 'द कॉलेज ऑफ इंडियन रिवोल्ट', 'कमेटरी ऑन बाइबिल' और लेटर्स फ्रॉम इंग्लैण्ड' नामक ग्रंथ की रचना की। उन्होने तहजीब-उल-अखलाक' (नैतिकता की परिपूर्णता) नाम से एक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित की। जीवन के उत्तरकाल में सैयद अंग्रेज उपनिवेशवादियों की 'बांटो और राज करो' की नीति के शिकार हो गए।

मोटे तौर पर सैयद वस्तुगत आदर्शवादी विचारों के थे। उनके अनुसार प्रकृति को खुदा ने बनाया है, जो उस पर शासन करता है। सृष्टि का प्राथमिक तत्व खुदा है। प्रकृति के नियम अपरिवर्तनीय हैं। ये खुदा की इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र हैं। खुदा ने न केवल प्रकृति का, अपितु धर्म का भी निर्माण किया है। अत: हमें कुरान के उपदेशों पर चलना चाहिए। इस तरह उन्होंने आस्था और तर्क के बीच समन्वय करने का प्रयास किया।

रामकृष्ण परमहंस (गदाधर चटर्जी) (1834-1886) सुधारवादी आंदोलन के प्रतिनिधि थे। वे सभी धर्मों को एकसमान समझते थे। वे सांप्रदायिक भेदभाव को हानिकारक मानते थे। वे कहते थे कि "कृष्ण और शिव एक ही हैं, ब्रह्मा, ईसा और अल्लाह सब एक हैं।"

औपचारिक शिक्षा से रहित रामकृष्ण वेदांत दर्शन के अनुयायी थे। उनके अनुसार जगत भ्रम नहीं है, बल्कि ब्रह्म, जो परम आध्यात्मिक द्रव्य है, उसकी अभिव्यक्ति है। उन्होंने वस्तुगत आदर्शवाद को सामाजिक जीवन के साथ जोड़ दिया। उनकी मान्यता है कि प्राकृतिक घटनाओं की संपूर्णता स्थूल, बिरल तथा अनियमित अवस्था का कारण है। रामकृष्ण को भौतिक जगत और ब्रह्म जगत में विरोध दिखाई देता है। उनके अनुसार भौतिक जगत की घटनाओं से बाह्य जगत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। "अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सद्गुण-दुर्गुण हमारे लिए सापेक्षित हैं—ब्रह्म उनसे अप्रभावित है। जैसे एक ही प्रकाश से कोई एक धर्मग्रंथ को पढ़ सकता है, तो दूसरा उसी प्रकाश से जाली दस्तावेज भी बना सकता है, किन्तु प्रकाश दोनों

से अप्रभावित रहता है। इसी तरह हमारे अच्छे-बुरे काम हमारे लिए अच्छे-बुरे हैं, ब्रह्म उनसे प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होता।"

स्वामी विवेकानंद (नरेन्द्रनाथ दत्त) (1862-1902) रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। उन्होंने विज्ञान, विश्वइतिहास और दर्शन का गहन अध्ययन किया था। उन पर फ्रांसीसी क्रांति का प्रभाव था। कोलंवियों के स्वतंत्रता संग्राम का उन्होंने स्वागत किया था। विश्वदृष्टिकोण रखने के कारण उनकी मान्यता थी कि सारा संसार जब तक एक साथ आगे कदम नहीं बढ़ाता, तब तक कोई प्रगति संभव नहीं है। जैसे-जैसे दिन बीतते हैं, यह स्पष्ट होता जाता है कि संकीर्ण नस्ली अथवा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से किसी भी समस्या का समाधान संभव नहीं है।

विवेकानंद ने स्वयं गरीबी भोगी थी और भारत के बहुसंख्यक गरीबों की गरीबी का प्रत्यक्ष दर्शन कर उनके दर्द को महसूस किया था। किसी एक पत्र में उन्होंने लिखा—"रोटी, रोटी! मैं यह स्वीकार नहीं करता कि जो ईश्वर मुझे यहां रोटी नहीं दे सकता वह स्वर्ग में मुझे अनंत सुख देगा! उफ! भारत को ऊपर उठाया जाना है! गरीबों की भूख मिटायी जानी है। शिक्षा का प्रसार किया जाना है! पंडों-पुरोहितों को हटाया जाना है। हमें पंडे-पुरोहित नहीं चाहिए! हमें सामाजिक आतंक नहीं चाहिए! हरेक के लिए रोटी, हरेक के लिए काम के अवसर चाहिए। (सैलक्शंस फ्रॉम स्वामी विवेकानंद-862)। अंधविश्वास के खिलाफ बोलते हुए उन्होंने कहा—"यह कहीं ज्यादा अच्छा है कि तर्क और युक्ति का अनुसरण करते हुए लोग अनीश्वरवादी बन जायें— बजाय इसके कि किसी के कह देने मात्र से अंधों की तरह बीस (तैंतीस) करोड़ देवी-देवता को पूजने लगें।" (कंप्लीट वर्क्स खंड-2, 334)

विवेकानंद प्रधानतः वेदांती होते हुए, साथ ही समाजवादी भी थे। उनके मतानुसार संसार से परे कोई ईश्वर नहीं। यह ब्रह्मांड ही ब्रह्म है। ब्रह्मांड असृष्ट, शाश्वत और स्वप्रकाशित है। ब्रह्मांडेतर ईश्वर निर्माता नहीं हो सकता। तत्त्वमसि—वह तुम हो। विवेकानंद न तो वेदांत से मुक्त हो सकते हैं, न ही वैज्ञानिक चिंतन से और न ही समाजवादी विचारों से। वे लगातार इस त्रिकोण में गतिशील रहने को विवश हैं। इसीलिए उनका उपयोग सभी कर सकते हैं, करते हैं। वे अद्वैत को मानते हैं, किन्तु शंकर के शून्यवाद से अलग हटकर गतिशील अद्वैत को वास्तव में विवेकानंद ने भरतीय दर्शन की सभी प्रवृत्तियों, साथ ही समाजशास्त्रीय व वैज्ञानिक अवधारणाओं का प्रवाहपूर्ण तत्परता के साथ समन्वय किया। नौजवानों को शिक्षित और प्रेरित करने में विवेकानंद एक अतुलनीय प्रतिभा थे। दर्शन की गहराइयों के साथ वेगमय उद्बोधन से सन् 1893 में शिकागो, अमरीका में आयोजित 'वर्ल्ड कांग्रेस ऑफ रिलीजन्स' में भारत के इस संन्यासी प्रतिनिधि ने वह चमत्कारी व अजेय प्रभाव पैदा किया कि उनका वही भाषण ही इतिहास का एक सम्मोहक अध्याय बन गया।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (1856-1920) ने सन् 1881 में दो साप्ताहिक पत्रों—अंग्रेजी में 'मराठा' और मराठी में 'केसरी' के प्रकाशन से स्वाधीनता संघर्ष का बिगुल बजा दिया। इससे सन् 1882 में उन्हें चार माह के कारावास का दंड दिया गया। वे नरमपंथियों के सुधारवाद के खिलाफ थे, अत: उन्हें गर्मदली नेता कहा जाने लगा था। तिलक के गर्मदल के साथियों में पंजाब के लाला लाजपतराय राय, बंगाल के विपिन चन्द्र पाल और अरविन्द घोष थे। लाल, बाल, पाल की त्रिवेणी का प्रभाव क्षेत्र बहुत व्यापक था।

वेदों और गीता के दार्शनिक विश्लेषण ने तिलक को गंभीर विचारकों के रूप में सुख्यात कर दिया। 'स्टडीज़ इन द एंटीक्यूरीज ऑफ द वेदाज', 'द होम ऑफ द वेदाज' और 'गीता रहस्य' में वे एक दार्शनिक चिंतक के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। मांडले की छ: वर्ष की कारावास की कालावधि में तिलक ने 'गीता रहस्य' की रचना की, जिसने *भारत के स्वतंत्रता संग्राम को भौतिक और वैचारिक संघर्ष में एक* नया आयाम प्रदान कर दिया।

'गीता रहस्य' के ज्ञान, कर्म और और भक्ति योगों में से तिलक ने कर्मयोग को प्रधानता दी है। उस समय यह आवश्यक भी था। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में *जनसाधारण को सक्रिय भागीदार बनाने के लिए कर्मयोग का उपयोग ही प्रेरक शक्ति* बन सकता था। तिलक ने कर्मयोग का उपयोग रूढ़ियों और अंधविश्वासों को तोड़ने के लिए नहीं किया, क्योंकि मूल रूप से वे गीता के 'स्वधर्मेनिधनं श्रेय:, परधर्मो भयावह' के पक्षपाती थे और पुराणपंथी मृतप्राय: परंपराओं को पुनर्जीवित करना चाहते थे। वे बाल विवाह तक का समर्थन करते थे। पुनरोत्थानवादी होने की वजह से जहां जनसाधारण के लिए गीता के कर्मयोग का उपयोग करते हैं, वहीं गणपति उत्सव मनाने और गोरक्षा समितियां संगठित करने को भी मुक्ति संघर्ष का उपकरण बनाते हैं जिसका यह छोर सांप्रदायिक वैमनस्य से जुड़ जाता है। इसी कमजोरी के शिकार थे लाला लाजपतराय, अरविन्द घोष और बंकिमचन्द्र चटर्जी आदि। धार्मिक उपयोग की इस कमजोरी ने उपनिवेशवादियों को मुस्लिम सांप्रदायिकता को उकसा कर विभाजक रेखा खींचने का अवसर दे दिया।

अरविन्द घोष (1873-1950) भी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के नेताओं में थे। *दर्शन के क्षेत्र में वे अखंड वेदांत के अवधारक थे। उनके अनुसार सृष्टि का प्राथमिक* आधार ब्रह्म है। ब्रह्म के तीन रूप है—अनिश्चित ब्रह्म (निर्गुण), निश्चित ब्रह्म (सगुण) तथा परम चेतना, आत्मन के समान ब्रह्म। अनिश्चित ब्रह्म द्रव्य है, वह स्वयं अभिव्यक्त है, वास्तविक है, वही एकमात्र अस्तित्व है, सत्तावान है, निरपेक्ष है। वह न भौतिक है, न वैचारिक। आकाश, काल, गति, मात्रा, गुण, कारण और विकल्प से परे है। *वह अस्तित्व है, जिसे प्रमाण की अपेक्षा नहीं। वह अव्यक्तव्य है,* न 'नेति'

न 'इति' से परिभाषित।

अरविन्द ने भौतिकवाद और आध्यात्मवाद के विभाजन को समाप्त करते हुए अथवा यों कहें कि दोनों का समन्वय करते हुए सत्य का तीसरा प्रकार प्रस्तुत किया 'अखंडवाद'। अखंडवाद में पदार्थ और चेतना की अविभाज्यता है। वह ऐसा अखंड वेदांत है (तृतीयक) जो भौतिकवाद और आध्यात्मवाद या कि आदर्शवाद से ऊपर है अर्थात् जहां सारे दार्शनिक दृष्टिकोणों का विलीनीकरण होकर सब कुछ अखंड अस्तित्व में समाहित हो जाता है। अखंडवाद के पर्यायवाची हैं—अखंड वेदांत और अखड योग।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के युग ने अन्य अनेक उच्चकोटि के समाजशास्त्रीय और वैचारिक स्तर पर गंभीर व्यक्तित्व प्रदान किए, जिनमें बंकिमचन्द्र, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ और इकबाल जैसे मर्मज्ञ रचनाकारों का नाम रेखांकित किया जा सकता है। इनमें उदार सुधारवादी भी थे। तो उग्र पुनरावर्तनवादी भी। लेकिन सबका लक्ष्य था अपनी कला और अपने दार्शनिक चिंतन का उपयोग, उपनिवेशवादी शासन से भारत को स्वतंत्रता प्रदान करने के लिए करना। ठेठ तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो नरमपंथी, गर्मपंथी या सुधारवादी पुनरावर्तनवादी विचारकों ने प्राचीन दार्शनिक प्रणालियों की व्याख्याएँ और भाष्य किए हैं, पक्ष या विरोध किए है, या समन्वय किया हैं, किन्तु दर्शन की कोई अलग पद्धति का अनुसंधान नहीं किया । उनकी विशेषता इसमें है कि राष्ट्रीय पुनर्जागरण, चेतना के विकास और आजादी के आन्दोलन में अपने दार्शनिक विचारों और रचना कौशल का संपूर्ण उपयोग किया । चिंतन और कृतित्व का व्यावहारिक स्वरूप किसी भी स्वतंत्र पद्धति से कम करके नहीं आंका जा सकता।

गांधीवाद— महात्मा गांधी (मोहनदास कर्मचन्द गांधी)—1869-1948) की विचारधारा को 'गांधीवाद' के रूप में सुपरिचित किया गया है। गांधीवाद, राष्ट्रपिता या 'बापू' महात्मा गांधी के महान् कार्यों और उनके गहन विचारों का समेकीकृत निष्कर्ष है। गांधी जी की सबसे बड़ी विशेषता है— वे जो कहते या लिखते थे, वैसा ही प्रयोग में लाते थे और जो प्रयोग करते थे, उन्हीं को लिख कर या कह कर व्यक्त करते थे। सत्य और अहिंसा को उन्होंने अपने तरीके से व्याख्यायित किया और उन्हें अपने व्यवहार में उतार कर उन व्याख्याओं को प्रमाणित भी किया। इसे गांधीवादी दर्शन भी कहा जा सकता है और गांधीवादी विज्ञान भी। गांधी विज्ञान की तीनों पद्धतियों को बखूबी अपनाते हैं। भारत हो या अफ्रीका या और कोई क्षेत्र जिला या गांव—वहां के जनजीवन का बारीकी से निरीक्षण करते हैं, उसे हर दृष्टि से देखते, परखते और समझते हैं। उसका वर्गीकरण और विश्लेषण करते हैं। उसकी आशाओं और अपेक्षाओं में पैठते हैं और फिर स्वयं को उस जनजीवन के साथ संश्लिष्ट करके उसे अपने साथ ले चलते हैं। इस तरह सत्य से सत्य का आग्रह अर्थात् सत्याग्रह प्रत्यक्ष

होता है और अहिंसा, असहयोग या सविनय अवज्ञा या हिंसा रहित प्रतिरोध का रूप धारण कर संघर्ष का एक शक्तिशाली उपकरण बन जाती है। अब गांधी अपनी लकड़ी थामे सत्याग्रह और असहयोग या सविनय अवज्ञा के हथियार लेकर ब्रिटिश उपनिवेशवादी बारूदी सत्ता सेना के सामने स्वतंत्रता संग्राम की युद्धभूमि में खड़ा होकर ललकार उठता है।

यह सही है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर प्रभावशाली आघात करने वाली अनेक सुधारवादी, क्रान्तिकारी, राष्ट्रवादी और प्रगतिशील शक्तियां थीं, किन्तु जनसाधरण तक जितनी गहरी और व्यापक पहुंच उस अधनंगे संत फकीर की थी, उतनी किसी दूसरे की नहीं। गांधी के प्रयोग उनके अपने प्रयोग थे, चरखे चलाने वालों के, नमक बनाने वालों के, निहत्थे गिरमिटियों के और खेतों में काम करने वाले किसानों के प्रयोग थे—अपने लिए नहीं, भारत की मुक्ति के लिए थे, निष्काम कर्मयोग के प्रयोग थे। गांधी जान हथेली पर रख कर खड़ा था देश की आजादी के लिए, मानवता के आत्मविश्वास के लिए, भाईचारे के और विश्वशांति के लिए तथा साथ ही कट्टरताओं की काट के लिए।

सत्य और अहिंसा गांधी के अपने जीवन के साध्य हैं और गांधीवाद, भौतिक संसाधनों आदि संहारक शस्त्रों से लैस साम्राज्यवादी सत्ता से न केवल टकराने का, अपितु उसे गिराने, हटाने, मिटाने का साधन भी हैं। यह अभूतपूर्व प्रयोग था, एक अपूर्व दर्शन। इसके पक्षधर और विरोधी दोनों चमत्कृत थे, दुनिया उत्सुक थी निष्कर्ष की प्रतीक्षा में। शासक सोच में पड़ गया कि अब इस चरखे पर कौनसा हथियार चलाया जाय। खरीद-फरोख्त, लाठी-गोली जहर-कहर समझ काम नहीं करती बड़े-बड़े कूटनीतिज्ञों की! पता नहीं, वह कब कौन से साधारण से काम को (झाडू देने जैसे काम को) जनता का प्रोग्राम - स्वतंत्रता का कार्यक्रम जंग-ए-आजादी का मकसद घोषित कर दे! पता नहीं, कब किस सुबह अपनी 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान' वाली प्रार्थना सभा में 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' मंत्र फूंक बैठेगा!

सत्य और अहिंसा नैतिक मूल्य रहे हैं। उपदेशों और भाषणों के आधार शब्द रहे हैं। संतों और संन्यासियों के प्रवचनों के वक्तव्य बिन्दु भी रहे हैं। दार्शनिक पद्धतियां ने भी इन्हें अपनी परिधियों में लिया है। किंतु इन दोनों में वह अमोघ शक्ति और विद्युत प्रवाही प्रभाव नहीं रहा, जो गांधी और उसके गतिशील चिंतन-गांधीवाद ने इनमें उत्पन्न किया। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के लिए सत्य और अहिंसा की इतनी केन्द्रिकता को तो किसी दर्शन में सिद्ध नहीं किया जा सका। गांधीवाद की कमजोरी, है तो केवल यह कि यह गांधी के आत्मीकरण के पश्चात् प्रयोगसिद्धि का प्रमुख प्रमेय नहीं रहा।

सत्य अहिंसा के प्रतीक हैं खादी और ग्रामोद्योग, सांप्रदायिक एकता,

वर्णव्यवस्थाजन्य अस्पृश्यता का उन्मूलन, नशाबन्दी, निरक्षरता निराकरण, ग्रामसुधार, हिन्दुस्तानी भाषा प्रचार आदि। इतना सतहीकरण और साथ ही इतनी गहराई से इनका इतना उच्च मूल्यांकन। किसी उपेक्षित को शिखर पर चढ़ा देने जैसा था। साधारणतया में असाधारणत्व का रूपायन था। गांधी ने कहा "यह है स्वतंत्रता प्राप्ति का कार्यक्रम!" सबने समवेत स्वर में कह दिया—"हां, यही है स्वतंत्रता प्राप्ति का कार्यक्रम!" जवाहर जैसे बुद्धिजीवी को भी मान लेना पड़ा और ले लिया चरखा हाथ में और पहन ली दुपल्ली टोपी। सबकी समझ बन गई जो गांधी की थी कि "जिस तरह सशस्त्र विद्रोह के लिए सैनिक शिक्षा जरूरी है, उसी तरह असहयोग आन्दोलन के लिए रचनात्मक कार्यक्रम (चरखा चलाना आदि) जरूरी है।" अब यह समझ लोकायतिक दर्शन या लोकचिंतन बन गई। 'यंग इंडिया' में गांधी ने कह दिया "भारत भूख से मर रहा है, क्योंकि उसे उस रोजी-रोजगार से वंचित कर दिया है, जो उसे रोटी दे सकता है । उन लाखों लोगों के लिए, जो मृत्यु के गाल में समा रहे हैं, चर्खा जीविका का एक साधन है। भूख ही भारत को चर्खे की ओर धकेल रही है।"

गांधी जी जगत के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जगत मनुष्य की चेतना से स्वतंत्र एवं वस्तुगत रूप से वर्तमान है, किन्तु उसकी प्राथमिकता आध्यात्म है, जिस पर वह निर्भर करता है। ईश्वर एक रहस्यमय सत्ता है जिसे परिभाषित नहीं किया जा सकता। वह सर्वव्यापी है। फिर भी हमारी अनुभूतियों से बहुत ऊपर है। गांधीजी हर परिवर्तन को मरणांतक मानते हैं, किन्तु प्रत्येक परिवर्तन के पीछे एक जीवंत शक्ति है, जो कभी परिवर्तित नहीं होती। वह सब तत्वों को मिलाकर सृजन करती है।

लेकिन यह ईश्वर क्या है ? गांधी जी का उत्तर है—सत्य ही ईश्वर है। 3 मार्च सन् 1925 के 'यंग इंडिया' में उन्होंने लिखा—"मेरे सम्पूर्ण अनुभव ने मुझ में यह अटल विश्वास पैदा कर दिया है कि सत्य के अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है। किसी क्षण एक शुद्ध हृदय जो अनुभव करता है, वह ही सत्य है, उस पर अडिग बने रह कर, विशुद्ध सत्य को प्राप्त किया जा सकता है।" गांधी जी मोक्ष को जीवन का लक्ष्य मानते थे, किन्तु उसके लिए वे संन्यास लेने की पलायनता को स्वीकार नहीं करते। "मैं अपनी जनता की सेवा करता हूं, वह उस अनुशासन का एक हिस्सा है, जिसके जरिये मैं अपनी आत्मा को शारीरिक बंधनों से मुक्त करने का प्रयास करता हूं। मेरे लिए मोक्ष का रास्ता मानवता के प्रेम से होकर है। मैं हर उस चीज से अपना तादात्म्य करना चाहता हूं, जो जीवनमय है।" (यंग इंडिया)

गांधी जी सत्य को मानव प्रेम में और इस प्रेम को अहिंसा में रूपांतरित करते हैं। उनके अनुसार यदि मनुष्य सत्य को ईश्वर के रूप में पाना चाहे, तो इसका अचूक साधन प्रेम है अर्थात् अहिंसा है। गांधी जी साध्य और साधन दोनों को एक दूसरे का

पर्याय मानते हैं। अत: वे ईश्वर या सत्य (साध्य) और प्रेम या अहिंसा (साधन) दोनों को एक ही समझते हैं। उनका सुप्रसिद्ध वक्तव्य रहा है—"सत्य का पूर्ण दर्शन, अहिंसा को पूर्णत: प्राप्त करने से ही हो सकता है।" और "मेरे लिए अहिंसा स्वराज्य से भी पहले है। जब अहिंसा की बात आती है, तो उसे हर चीज से पहले आना चाहिए। तब ही वह इतनी शक्तिशाली हो सकती है कि कोई उसे पराजित न कर सके।" तथा अहिंसा का पाठ ऐसे व्यक्ति को नहीं पढ़ाया जा सकता, जो मृत्यु से डरता है और जिसमें प्रतिरोध करने की क्षमता नहीं है।" इसे और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—"अहिंसा का अर्थ बुरा काम करने वाले के सामने घुटने टेक देना नहीं है। इसका अर्थ है, अत्याचारी के विरुद्ध अपनी समूची आत्मा का बल लगा देना। अपने अस्तित्व के इस नियम के अन्तर्गत कार्य करते हुए किसी भी अकेले व्यक्ति के लिए संभव है कि वह एक अन्यायपूर्ण साम्राज्य की समूची शक्ति और बल को चुनौती दे सके।"

गांधीवाद सत्य और अहिंसा का तात्विक और व्यावहारिक दर्शन है। वह ज्ञान और व्यवहार सापेक्ष है। गांधी जी ने उसे प्रायोगिक भी बना डाला। वह राष्ट्रीय चेतना के विकास का और उपनिवेशवाद विरोधी मुक्ति आंदोलन के विकास से सापेक्षित दर्शन है। गांधी का स्वयं को हिन्दू या सनातनी कहना उनके सर्वधर्म-समवाद और विश्व दृष्टिकोण की परिधियों में सन्निहित है, क्योंकि वे हिन्दू या सनातनी होते हुए भी हिन्दुत्व की कट्टरता के विरुद्ध प्राणों की बाजी लगाकर लड़ रहे हैं। इसी तरह वे किसी भी धर्मांधता या संप्रदायवाद के विरुद्ध प्राणप्रण से संघर्षरत हैं। उनका दैनिक कार्यक्रम ही 'ईश्वर अल्लाह' के एकीकरण से आरंभ होता है और यह किसी छलपूर्ण 'एकत्ववाद' की प्रस्थापना के लिए नहीं था, बल्कि वह गांधी का निष्काम व निश्छल समतावादी दर्शन था। हिन्दू कर्मकांड या कि वैदिक पूजापद्धति, वर्णव्यवस्था, पौरोहित्य विधि-विधान के वे उतने ही विरोधी हैं, जितना अन्य कोई भी। अत: उनके दर्शन के मूल में सतत मानवतावाद है। उनका प्रेम या अहिंसा स्वयं व्यक्ति, परिवार या संप्रदाय विशेष और भारत तक ही सीमित नहीं है, वह विश्वस्तरीय या वैश्विक है। वह अफ्रीका से चालू होकर भारत और फिर विश्वशांति के प्रणयन तक पहुंच जाती है। गांधी देशों के पारस्परिक शोषण और युद्ध के जितने विरोधी हैं उतने विश्वयुद्ध के भी। सामयिक परिस्थिति गांधी को परेशानी या अन्तर्द्वन्द्व में नहीं उलझाती, क्योंकि वे उनसे निकलने का रास्ता भी जानते हैं।

गांधीवाद यथास्थितिवाद को तोड़नेवाला परिवर्तन सापेक्ष चिंतन है, उसमें गतिशीलता है। उसकी कमजोरी है कि वह वैचारिक और व्यावहारिक दोनों ही स्तर पर वर्गीय शोषण की क्रूरता और वर्ग-संघर्ष की तीव्रता को अपने समन्वयवाद में समाहित कर देता है। अंतत: उसका ट्रस्टीवाद शोषक वर्ग की गोद में जा बैठता है। समन्वयवाद उपनिवेशवाद की विभाजन की नीति को पराजित करने में सफल नहीं

हो पाता और न ही हिन्दुत्व का जहर महात्मा गांधी की हत्या करने से बाज आता है।

जवाहर लाल नेहरू (1889-1964) के चिंतन पर तत्कालीन लोकतांत्रिक समाजवाद, गांधीवाद और मार्क्सवाद का प्रभाव रहा है। उनके स्वयं के अध्ययन, विदेशी यात्राएँ, भारत की गरीबी, उपनिवेशवाद विरोधी लहर, अक्टूबर क्रांति के बाद रूस में पंचवर्षीय योजना द्वारा लाए गए परिवर्तन, वैज्ञानिक उपलब्धियों, समकालीन महान् विचारकों, राजनीतिज्ञों और साहित्यकारों के साथ संपर्क और सबसे बढ़कर उनके अपने संवेदनशील स्वभाव का ही समेकित निष्कर्ष था कि नेहरू विश्व दृष्टिकोण रचने वाले प्रतिनिधियों में अपना प्रमुख स्थान निर्धारित कर सके। उनके विचारों को समझने के लिए उनके द्वारा जेल में लिखित 'विश्व इतिहास की झलक', फिर 'आत्मकथा', 'हिन्दुस्तान की खोज' जैसी सारगर्भित रचनाओं, और फुटकर निबंध, पत्रों व भाषणों आदि का संकलन का अध्ययन किया जाना चाहिए। वे ही पहले भारतीय लेखक थे, जिन्होंने विश्व की ऐतिहासिक घटनाओं के संदर्भ में भारतीय इतिहास का आकलन किया और भारत की आजादी के आंदोलन को साम्राज्यवाद के विरुद्ध विश्वव्यापी संघर्ष के हिस्से के रूप में दर्शाया। कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में समाजवाद के बारे में उन्होंने कहा—"मैं इस नतीजे पर पहुंच गया हूं कि दुनिया की समस्याओं और भारत की समस्याओं का समाधान समाजवाद में ही निहित है।" और "यह जीवन का एक दर्शन है।" और इस रूप में यह मुझे भी भाता है। भारत की जनता की कंगाली, जबरदस्त बेरोजगारी, दयनीयता और गुलामी को दूर करने का मैं समाजवाद के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं देख पा रहा हूं।"

जवाहर लाल नेहरू साध्य और साधन की समरूपता को उसी प्रकार स्वीकार करते हैं जैसे गांधी जी। उनके अनुसार यदि साध्य सही भी हुआ, किन्तु उसे प्राप्त करने के साधन गलत हुए, तो इससे साध्य विकृत हो जायेगा या हम गलत दिशा में भटक जायेंगे। नेहरू हर प्रकार के कट्टरवाद, रूढ़िवाद, फासीवाद, नस्लवाद, कर्मकांडवाद और भौतिक और वैचारिक दमनवाद के सख्त खिलाफ थे।

दर्शन के स्तर पर नेहरू अधरझूल के विचारक नजर आते हैं। वे जब मार्क्सवाद की तरफ झुकते हैं तो गांधीवादी वेदांत उन्हें वापिस खींच लेता है। इस उलझन भरी मानसिकता को निम्नांकित नेहरू वाक्यों से प्रमाणित किया जा सकता है—"मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की अनेक बातों को स्वीकार करते हुए भी उसने मुझे पूर्णतः संतुष्ट नहीं किया, न ही मेरे मस्तिष्क में उठ रहे सभी प्रश्नों का उत्तर दिया और लगभग अजाने ही एक अस्पष्ट आदर्शवादी उपागम ने मेरे मस्तिष्क में प्रवेश किया, जो किसी हद तक 'वेदांत' के दृष्टिकोण से मिलता था। यह मस्तिष्क (चेतना) और पदार्थ के

बीच भेद का सवाल नहीं था, वरन् मस्तिष्क से भी परे की किसी चीज का मसला था।''

('हिन्दुस्तान की खोज'-13)

स्पष्ट है कि नेहरू भौतिकवाद और आदर्शवाद के, विज्ञानवाद और आध्यात्मवाद के बीच आजीवन खोज की स्थिति में ही रहे, वे शंकाओं और आशंकाओं के भंवरजाल में डूबते-उतरते रहे। इस अस्थिर मानसिकता ने न उन्हें विश्वविख्यात इतिहासकार के रूप में और न ही एक सर्वमान्य दार्शनिक के रूप मे ही स्वीकृत होने दिया। निश्चय ही वे आस्थावान व्यक्ति थे, जिज्ञासु और प्रतिभावान भी थे, किन्तु राष्ट्र और विश्व में तेजी से घटती-बढ़ती घटनाओं ने इतना व्यस्त कर दिया था कि वे तन्मय होकर दार्शनिक गुत्थियों को सुलझा सकने के लिए मौका ही नहीं पा सके। वे अपने भौतिकवाद पर आधारित आदर्शवाद अथवा यह भी कह सकते हैं कि वे वस्तुवादी आध्यत्मवाद के बोझ से नहीं उबर सके।

इनके अलावा भारतीय दर्शन की विविध पद्धतियों के व्याख्याकारों में विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों के अध्यक्ष और विद्वान भी सामने आए जिनमें सर्वपल्ली राधाकृष्णन, एम. हिरियन्ना, डॉ. सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं डॉ. धीरेन्द्र मोहनदत्त व डॉ. वात्स्यायन आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय रहे हैं। इन्होंने विश्वविद्यालयी छात्रों और शोधार्थियों के लिए भारतीय दर्शन की अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकों की रचना की। इनमें अत्यंत मूल्यवान संदर्भ सामग्री प्रस्तुत की गई है। जहां इन्होंने अपना मूल्यांकन दिया है, वहां उनकी अपनी पक्षधरता का समाविष्ट होना स्वाभाविक ही था। एस. एन. दासगुप्ता ने कई खंडों में 'भारतीय दर्शन का इतिहास' लिखा। इसमें बहुत विस्तार के साथ विविध प्रणालियों का विश्लेषण किया गया है। दासगुप्ता की इस विशद कृति ने दर्शन के विकास और शोध-कार्य में स्तुत्य योगदान किया है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि यह दर्शन से संबंधित सारे उपलब्ध स्रोतों को एक साथ संकलित किए हुए है।

मार्क्सवाद—जब कार्ल मार्क्स ने यह कहा कि ''दार्शनिकों ने केवल विश्व के अस्तित्व के विषय में विश्लेषण किया है, लेकिन समस्या केवल अस्तित्व के विश्लेषण मात्र की ही नहीं है, उसके बदलने की भी है।'' तब से दर्शन का संबंध संसार के परिवर्तन के साथ जुड़ गया। मार्क्स के इस सूत्र वाक्य ने दर्शन का उपयोग मूल्य उद्घाटित कर दिया। वैसे तो दर्शन का आरंभ ही प्रकृति एवं समसामयिक आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों के साथ जुड़ा रहा है और गतिशील परिस्थितियों ने उसे भली प्रकार प्रभावित किया है और साथ ही दर्शन ने भी प्रत्येक परिवर्तन गति को तीव्रता प्रदान की है, लेकिन इस विषय में मार्क्स के इस सूत्र ने ही नहीं, अपितु मार्क्स के समूचे चिंतन अन्तर्य ने द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद अर्थात् मार्क्सवाद ने दर्शन को परिवर्तन सापेक्ष कह कर एक क्रान्तिकारी दिशा की ओर मोड़ दिया।

लोकायत, वेदांत, बौद्ध, जैन, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि प्रत्येक दार्शनिक पद्धति ने ऐतिहासिक परिवर्तन की गति को प्रभावित किया है तथा अपनी उपयोगिता को प्रमाणित किया है। मार्क्सवाद की विशेषता यह है कि वह दर्शन को शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध उसे क्रांतिकारी संघर्षों का चेतनिक उपकरण बना देता है और तब दर्शन एक अभूतपूर्व ऊर्जा समाहित कर स्वयं क्रांतिकारक रूप धारण कर लेता है। इसीलिए मार्क्सवाद को आधुनिक काल का शीर्षस्थ परिवर्तन सापेक्ष चिंतन कहा जाता है।

बीसवीं सदी के आरंभ से ही मार्क्सवाद ने भारतीय विचारकों को प्रभावित करना आरंभ कर दिया था। सन् 1917 की अक्टूबर क्रान्ति की घटना ने तो मार्क्सवाद की लहर ही पैदा कर दी। राष्ट्रवादियों, क्रान्तिकारियों और वामपंथियों आदि सभी को किसी न किसी रूप में मार्क्सवाद को स्वीकार करना पड़ा, क्योंकि अनिवेशवाद से शोषित पीड़ित भारत की मुक्ति के लिए इससे बड़ा दार्शनिक उपकरण हो ही नहीं सकता था। सन् 1915-20 की आर्थिक और राजनीतिक हड़तालों की पृष्ठभूमि में इसी लहर का प्रभाव था। इससे आगे के समूचे स्वतंत्रता संग्राम को भीतर-बाहर से मार्क्सवादी विचारधारा प्रभावित करती रही है। भगवद्गीता और मार्क्सवाद, ये दोनों प्रेरक शक्तियां थीं स्वाधीनता हेतु संपादित भूमिगत और प्रत्यक्षवर्ती कार्यक्रमों की। प्रतीकों के रूप में विवेकानंद, तिलक, गांधी, जवाहरलाल नेहरू, एम एन. राय, श्रीपाद अमृत डांगे, भगतसिंह, आदि का नाम लिया जा सकता है। 'कानपुर और मेरठ बोल्शेविक षड्यंत्र केस' की पैरवी में स्वयं मोतीलाल नेहरू और गणेश शंकर विद्यार्थी थे। नरमदली हो या गरमदली, सभी पर किसी न किसी रूप में मार्क्सवाद का प्रभाव रहा है।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक के आते-आते तो बंबई, मद्रास, कलकत्ता, कानपुर और लाहोर के औद्योगिक क्षेत्रों में कम्युनिस्ट दलों ने मार्क्सवाद के आधार पर ही अपना ढांचा खड़ा किया। एस. ए. डांगे, एस. वी. घाटे, मुजफ्फर अहमद, काजी नजरुल इस्लाम, सिंगार वेलु चेट्टियार और सकलातवाला अग्रगामियों में थे। इन्होंने अलग-अलग भाषाओं में अनेक पुस्तिकाएँ और पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित कीं। पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेजी में 'सोशलिस्ट', बंगला में 'नवयुग' और बाद में 'गणवाणी' मराठी में 'कीर्ति' और उर्दू में 'इंकलाब' प्रमुख थे। अब मार्क्सवाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के माध्यम से स्वतंत्रता आंदोलन का एक प्रभावशाली चिंतन बन कर उसका अटूट अंग बन गया। मार्क्सवादियों, कम्युनिस्टों और उनके अनुयायियों तथा समर्थकों को दमन और अत्याचारों के माध्यम से कुचलना चाहा, किन्तु अंततः यह संभव न हो सका और मार्क्सवाद का प्रभाव बढ़ता चला गया। उधर प्रवासी भारतीय सोवियत यूनियन में सक्रिय थे जिनमें एम. एन. राय, महेन्द्र प्रताप, शौकत उस्मानी आदि प्रमुख

थे और मेरठ षड्यंत्र केस में तो ब्रेडले और स्प्रेट जैसे अंग्रेज भी अभियुक्तों में शामिल थे। यह सब मार्क्सवाद को विश्वदर्शन रूप में प्रमाणित करता है। 'मेरठ केस' के बचाव के पक्षधर मोतीलाल नेहरू ने भारतीय धारासभा में सन् 1929 में कहा था— "क्या आप कंटीले तार लगाकर और कृत्रिम दीवारें खड़ी करके विचारों को भी भारत में प्रवेश करने से रोक सकते हैं ? वे दिन अब लद गये जब आप ऐसा कर सकते थे।"

मार्क्सवाद ने न केवल मजदूर अन्दोलनों और स्वतंत्रता संग्राम को ही प्रेरित किया, अपितु भारत के दर्शन के इतिहास में भी एक नये अध्याय का सृजन भी किया। इसने समस्त भारतीय दर्शन प्रणालियों को यथार्थवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर पुनर्मूल्यांकित करने की दृष्टि प्रदान की। इसने दर्शन और इतिहास को मिथकों से बाहर निकाल कर वास्तविक धरातल पर ला खड़ा किया। इसने अनेक धार्मिक कर्मकांडवादियों और पुनरावर्तनवादियों के हस्तक्षेपों के विरुद्ध वैचारिक संघर्ष की स्पष्ट रेखाओ को निर्धारित करने का मार्ग प्रशस्त किया। इसने साहित्य, संस्कृति और अन्य कलाक्षेत्रों को नये आयाम दिए।

मार्क्सवादी विचारकों में सर्व श्री एस.ए. डांगे, एम. एन. राय, राहुल सांकृत्यायन, ई. एम. एस. नंबूदिरीपाद, हीरेन मुखर्जी, यशपाल, डी. डी. कोसांबी, डॉ. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, एस. जी. सरदेसाई, के. दामोदरन, आर. एस. शर्मा, डी. एन. झा., मोहित सेन, ए. बी. बर्धन, सीताराम येचुरी आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। भारतीय दर्शन और ऐतिहासिक भौतिकवाद के संबंध में निम्नांकित चंद रचनाओं का अध्ययन किया जा सकता है—

1.	विश्व की रूपरेखा	राहुल सांकृत्यायन	1940-42 देवली जेल
2.	मानवसमाज	राहुल सांकृत्यायन	1940-42
3.	वैज्ञानिक भौतिकवाद	राहुल सांकृत्यायन	1940-42
4.	दर्शन-दिग्दर्शन	राहुल सांकृत्यायन	1940-42
5.	विज्ञान और दर्शन	एम. एन. राय	1940-42
6.	भारत : आदिम साम्यवाद से दासप्रथा तक	एस. ए डांगे	1949 यरवदा जेल
7.	दार्शनिक लेख व रचनाएं	डी. डी. कोसांबी	1955
8	लोकायत	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	1959
9.	Indian Atheism	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	1969
10.	भारतीय दर्शन	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	1964
11.	भरतीय दर्शन में क्या जीवंत और मृत	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	1976

12.	भारतीय दर्शन-वैचारिक और सामाजिक संघर्ष	एस.जी. सरदेसाई	1977
13.	प्राचीन भारत में प्रगति और रूढ़ि	एस.जी. सरदेसाई	1985
14.	भारतीय चिंतन परंपरा	के. दामोदरन	1976
15.	मध्यकालीन भारत	आर. एस. शर्मा	कोसांबी व्याख्यान माला
16.	भारत में राज्य की उत्पत्ति	आर. एस. शर्मा	
17.	शूद्रों का इतिहास	आर. एस. शर्मा	
18.	प्राचीन भारत की रूपरेखा	डी. एन. झा.	
19.	मार्क्सवाद-लेनिनवाद	ए. बी. वर्धन	
20.	भारतीय दर्शन का इतिहास (पांच खंडों में)	डॉ. एस. एन. दासगुप्ता	बीसवीं सदी के तीसरे चोथे दशक में रचित
21.	आधुनिक काल में भारतीय दर्शन	वी. ब्रोदोव	अनुवाद 1986
22.	साम्राज्यवाद का उदय और अस्त	अयोध्यासिंह	
23.	भारत का मुक्ति संग्राम		

इनके अलावा अनेकानेक वामपंथी राजनीतिज्ञों, विचारकों, साहित्यकारों, संस्कृतिकर्मियों, वैज्ञानिकों और पत्रकारों ने अपनी प्रबुद्ध कृतियों और भाषण मालाओं से जनचेतना को विकसित किया।

मार्क्सवादी चिंतन के पुरोधा राहुल सांकृत्यायन ने अपनी रचना 'मानव समाज' (105) में भारतीय दर्शन पर टिप्पणी करते हुए लिखा— "सारा भारतीय दर्शन (जो उपनिषद् के अज्ञेय रहस्यवाद, बौद्ध क्षणिक विज्ञानवाद और यूनानी परमाणुवाद के समागम से बना है) सामंतवादी समाज के वर्गहित द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष से प्रेरित हो अस्तित्व में आया।" लेकिन यह सर्वांग सत्य नहीं है, क्योंकि लोकायत और मूलभूत सांख्य को तो इससे अलग करना ही होगा। फिर भी इस उपर्युक्त टिप्पणी के अधिकांश सत्य को तो स्वीकारना ही पड़ेगा। निःसन्देह दर्शन के क्षेत्र में राहुल जी ने 'दर्शन दिग्दर्शन' की रचना करके तत्कालीन दार्शनिक विचारों को क्रांतिकारी मोड़ पर ला खड़ा किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले बीसवीं सदी के तीसरे चोथे दशक में डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता ने पांच खंडों में History of Indian Philosophy (भारतीय दर्शन का इतिहास) लिखा। यह बाद के सभी भारतीय दार्शनिकों, प्राध्यापकों, जिज्ञासुओं और उच्चस्तरीय छात्रों के लिए प्रामाणिक संदर्भ ग्रंथ माना जाने लगा। इसमें विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों, सिद्धांतों, ग्रंथों तथा ग्रंथकारों का आलोचनात्मक, तुलनात्मक एवं मर्मस्पर्शी विश्लेषण किया गया है।

भारत में श्रमिक संगठनों के अग्रणी नेता और द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद के विशेषज्ञ श्रीपाद अमृत डांगे ने 'भारत : आदिम साम्यवाद से दासप्रथा तक' में तत्कालीन स्थितियों का आकलन करते हुए ऋग्वेद और महाभारत के सूक्तों और श्लोकों को पहली बार सही परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया। यज्ञ और याज्ञिकीय क्रियाओं को यथार्थाधारित पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करने का यह प्रथम और सर्वग्राह्य प्रयास था।

मार्क्सवादी विचारकों में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने 'लोकायत' की रचना करके भारतीय दर्शन में भौतिकवाद और आदर्शवाद की द्वन्द्वात्मकता दर्शाने का एक और क्रान्तिकारी अध्ययन प्रस्तुत किया। 'लोकायत' पर टिप्पणी करते हुए पेरिस से 'ला प्यासिए ने कहा —" -देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय इसमें ('लोकायत' में) भारतीय भौतिकवाद का पुनर्गठन तो करते ही हैं, अपितु वे सामाजिक परिस्थिति के मार्क्सीय विश्लेषण के आधार पर तर्कसंगति भी प्रदान करते हैं।" देवीप्रसाद ने *What is living and what is dead in Indian Philosophy* (1976) में भारतीय दर्शन में ग्राह्य और अग्राह्य का विवेचन करके एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहल की है।

'भारतीय चिंतन परंपरा' में के. दामोदरन ने प्राचीन भारतीय दर्शन से लेकर बीसवीं सदी के मध्य तक की आधुनिक दार्शनिक शृंखला को वस्तुगत भूमिका पर पुनर्गठित करने का अत्यंत प्रशंसनीय श्रम किया है। इसी प्रकार रूसी दार्शनिक वी. ब्रोदोव ने Indian Philosophy in Modern Times में यथार्थवाद पर आधारित विवेचन का अधिकांश जोर 18वीं और 19वीं सदी की दार्शनिक धाराओं पर दिया, किन्तु पृष्ठभूमि में वैदिक और वैदिकोत्तर सभी पद्धतियों का सारगर्भित विश्लेषण भी समाहित किया। आखिर में ब्रोदोव ने इन शब्दों में अपना निष्कर्ष दिया—"नूतन युग में भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रगतिशील प्रवृत्तियो का विश्लेषण दर्शाता है कि किसी अन्य देश के समान, भारत में दार्शनिक विचारों का विकास एक नियम-शासित घटना है जो अंततः समाज के आर्थिक आधार में विकास व परिवर्तनों द्वारा प्रतिबद्ध है।" (हिन्दी अनुवाद—'आधुनिक काल में भारतीय दर्शन'-260)

अयोध्यासिंह ने 'साम्रज्यवाद का उदय और अस्त' व 'भारत का मुक्ति का संग्राम' आदि रचनाओं मे भारतीय चेतना को जनसंघर्षों के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित किया है। उन्होंने जनआंदोलनों को हमारे स्वतंत्रता संग्राम का प्राथमिक कारक सिद्ध किया है तथा आजादी के बाद के घटनाक्रमों में भी उनकी भूमिका को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है।

"'प्राचीन भारत की रूपरेखा' में डी. एन. झा का प्राक्कथन इस तरह ध्यान आकृष्ट करता है—"हमने प्रचीन भारतभूमि के इर्द-गिर्द दृष्टिपात करते हुए समाज और अर्थव्यस्था को बदलने वाले तथा गतिशील रखने वाले तत्वों की ओर विशेष

वे विन्दु थे— वस्तुगत जगत का यथार्थ और उसे प्राथमिक सत्य स्वीकार करना, तर्कसंगति को भौतिक आधार पर गठित करना, पदार्थ को जगत का प्राथमिक तत्व मानना तथा दूसरी ओर चेतना, आत्मा, परमात्मा (ईश्वर) या भावना तथा आस्था को सृष्टि का प्रथम या मूल कारक न स्वीकार करना। इस तरह वे आदर्शवादी मिथ्या अवधारणा के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करने में कभी पीछे नहीं रहे।

इसी संघर्ष का उल्लेख वी. आई. लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'इन्द्रियानुभविक आलोचना' में इस प्रकार अंकित किया था—''जीवन का, व्यवहार का, व्यावहार के दृष्टिकोण का स्थान, ज्ञान के सिद्धांत में सर्वप्रथम तथा आधारभूत होना चाहिए। व्यवहार का दृष्टिकोण आचार्यीय पांडित्यवाद की अनगिनत मनगढ़ंत बातों को सफाई करते हुए अनिवार्यत: भौतिकवाद की ओर ले जाता है। निस्सन्देह हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यवहार की कसौटी वस्तुत: किसी मानव विचार की न तो कभी पूर्णतया पुष्टि कर सकती है और न खंडन। यह कसौटी इतनी 'अनिश्चित' है कि वह मानव ज्ञान को 'निरपेक्ष' नहीं होने देती। परंतु साथ ही वह इतनी निश्चित अवश्य है कि जिसके द्वारा भाववाद तथा अज्ञेयवाद की सभी किस्मों के विरुद्ध अविराम संघर्ष किया जा सके। हमारा व्यवहार जिसकी पुष्टि करता है, यदि वह एकमात्र, अंतिम तथा वस्तुपरक सत्य है तो फिर इसका अर्थ यह स्वीकृति है कि इस सत्य तक रास्ता विज्ञान का रास्ता है, जो भौतिकवादी दृष्टिकोण अंगीकार करता है।''

फिर भी जहां एक ही पक्ष के (वामपक्ष के) चिंतकों के विश्लेषण में आत्मविरोध हो तो उसे किस प्रकार समझाया जा सकता है? उदाहरण के लिए, दो मार्क्सवादियों के एक ही विषयवस्तु पर मत भिन्नता हो अथवा एक ही मार्क्सवादी विचारक के भिन्न-भिन्न कालावधियों में आत्मविरोध या अन्तर्विरोध दिखाई दे तो उसकी पड़ताल कैसे की जाय? इस प्रकार के पारस्परिक टकराव या स्वयमेव में आत्मविरोध का क्या कारण हो सकता है—इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित किया जाता है।

ऐसी टकराहट या आत्मविरोध का एक कारण तो प्राप्त ज्ञान का आधार वस्तुपरकता न होकर आत्मपरकता हो सकता है या होता है और दूसरा कारण समय के अन्तरालों में उस दल विशेष की रणनीति में परिस्थितियों के दवाव के कारण दृष्टिकोण का परिवर्तित हो जाना हो। दल विशेष में आए परिवर्तन भी उस दल से संबंधित दार्शनिक या चिंतक के विश्लेषण में आत्मविरोध को प्रतिबिंबित करते हैं। कम्युनिस्ट पार्टियों के विभाजित घटकों, जैसे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), मार्क्सवादी-लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी या माओवादी कम्युनिस्ट पार्टी या इसी प्रकार की अन्य नामधारी कम्युनिस्ट पार्टी के विचारकों के चिंतन में दल सापेक्षता के कारण पारस्परिक भिन्नताएं पैदा हुई हैं या होती हैं। दूसरे

एक ही पार्टी घटक के दो विचारकों में आंतरिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण अन्तर्वस्तु को तोड़-मरोड़ कर पेश करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। एक कालखंड में एस.ए. डांगे का चिंतन उस दल के सभी व्यक्तियों या लेखकों को प्रभावित करता है तो कालांतर में दूसरे कालखंड मे डांगे उपेक्षित ही नहीं, तिरस्कृत भी कर दिए जाते हैं और तीसरे कालखंड में डांगे की रचना फिर उसी स्टाल से बिकने लगती है।

बदलती रहने वाली सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां पार्टियों में ही परिवर्तन नहीं लातीं, अपितु दार्शनिक तर्कसंगति में भी परिवर्तन पैदा करती हैं। क्योंकि कोई भी विचारक वर्ग विभाजित स्थिति में तटस्थ नहीं रह सकता, अत: उसके विचार भी दलगत चिंतन से विरक्त नहीं रह सकते।

अत: दल या पार्टी में होने वाले परिस्थितिजन्य परिवर्तन वाम या दक्षिण दोनों के चिंतकों में तदनुकूल परिवर्तन लाते ही हैं। इस प्रकार की आत्मपरकता वस्तुपरक निरपेक्षता को विपरीत दिशा में प्रभावित करती है, किन्तु नितान्त रूप से इससे नहीं बचा जा सकता। दूसरी तरह से देखा जाये तो यह अन्तर्द्वन्द्वात्मकता विकास की नई दिशा के निर्धारण की ओर इंगित करती है।

••

संभावना

भौतिक प्रकृति अर्थात् पदार्थ, पदार्थ की गतिशील प्रवृत्ति, गति के कारण रूपांतरण—दीर्घाओं, दीर्घाओं में सौरमंडल, सौरमंडलों में सौर—परिवार, ऐसे ही सौरपरिवारों में एक यह हमारा सौर—परिवार, और इस सौर—परिवार ग्रह-उपग्रहों में एक यह पृथ्वी। इस गतिशील पृथ्वी में जो ब्रह्मांड का अणुमात्र है, परिवर्तन की लंबी प्रक्रिया रही। इसी प्रक्रिया में रासायनिकता का एक प्रादुर्भाव हुआ—जलावतरण, जलावतरण से जैविकता का उद्‌भव और जैविकता में से मानव का विकास—जैविकता उच्चतम रूपांतर या श्रेष्ठतम स्वरूप। मानव का स्वयं की आवश्यकता पूर्ति हेतु श्रम द्वारा संग्रहकर्ता की स्थिति से आगे बढ़कर उपकरण निर्माता बन जाना और प्राणि जगत में विशिष्टता प्राप्त कर लेना।

कालांतरालों में सामुदायिकता से कबीलाई, कबीलाई से दास-स्वामी प्रथा, दासप्रथा से आगे सामंतवाद और उत्पादन पद्धति के अधिक विकसित होने पर पूंजीवाद और उत्पादन संबंधों की असत्य विषमता के फलस्वरूप पूंजीवाद में समाजवाद की सामाजिक मंजिलों का ढांचा बनता दिखाई देने लगा। प्रत्येक सामाजिक संरचना भौतिक उत्पादन, उत्पादन के अन्तर्द्वन्द्वात्मक विकास पर आधारित है और उसकी चेतना उत्पादन प्रक्रिया के गत्यात्मक विकास पर।

मानव का और साथ ही उसकी सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार की चेतना का आद्यंत स्रोत पृथ्वी के कलेवर में ही अन्तर्निहित है, अत: भौतिक है। पृथ्वी का यह हाल न होता जो ब्रह्मांड की सर्वोत्तम रचना के रूप में सामने आया है, तो न तो मनुष्य का विकास होता और न ही चेतना का, दर्शन का, इतिहास-साहित्य-कला-सस्कृति आदि का चेतना के उद्‌भव और उसके विकास को इस गतिशील पृथ्वी से अलग करके देखना नितांत अविवेकपूर्ण होगा।

दर्शन एक चिंतन प्रक्रिया है जिसकी जड़ें भौतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में अन्तर्निहित हैं। वह मानव-मस्तिष्क का सुसंगठित,

गतिशील और विकासोन्मुख पदार्थ है। वह भौतिक है, उसकी प्रक्रिया भौतिक है।

दुनिया में हर कहीं की चेतना का विकास इसी तरह हुआ है और भारत का दार्शनिक चिंतन भी इसका अपवाद नहीं है।

वस्तुत: भारतीय दर्शन यथार्थ और भावना के द्वन्द्व को लेकर न केवल शुरू ही होता है, अपितु द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद के वस्तुगत नियमों के आधार पर ही विकसित होता है। यथार्थपरक भौतिकवाद और आस्था प्रसूत आदर्शवाद का द्वन्द्व हमेशा से चलता चला आ रहा है। रूढ़िवादी और आध्यात्मवादी विचारक नासमझी से या जानबूझकर यह मिथ्या प्रचार करते रहते हैं कि "अद्वैत वेदांत ही भारतीय दर्शन है", अथवा "आध्यात्मवाद ही एकमात्र भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है", या कि "भारत की संस्कृति की जड़ें वेदांत में ही हैं" और भारतीय दर्शन की अन्तर्वस्तु 'जगत और जीवन का निषेध' ही प्रकट करती है। ऐसी मिथ्या धारणाओं से बचना चाहिए और उन्हें दृढ़ता के साथ नकार देना चाहिए। क्योंकि भारतीय दर्शन की प्राचीन प्रणालियों में प्रधान प्रवृत्ति भौतिकवाद थी, भाववाद या आदर्शवाद नहीं।

ऋग्वेद के वृहस्पति भारतीय भौतिकवाद के आदि प्रणेता थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम पदार्थ को परम सत्य घोषित किया था। इसीलिए डॉ. राधाकृष्णन ने 'हिस्ट्री ऑफ फिलोसोफी' खंड : 2 के पृ. 277 में कहा है कि "भौतिकवाद उतना ही पुराना है, जितना दर्शन। यह बुद्ध से पूर्व के समय में भी मौजूद था। इसके बीजाणु ऋग्वेद के सूक्तों में मिलते हैं।" यहां वृहस्पति के शिष्य धिषण और वैदिक विचारक परमेष्ठिन के भौतिक विचारों की याद दिलाना अनुपयुक्त नहीं होगा जो प्रकृति या पदार्थ को प्राथमिक तत्व मानते हैं। ऐसी ही धारणा भृगु ने व्यक्त की थी। उपनिषदों में श्वसनवेद उपनिषद तो मुख्य रूप से भौतिकवाद और प्रकृतिवादी उक्तियों से भरा पड़ा है, जैसे—

"न तो कहीं अवतार है, न ईश्वर है, न स्वर्ग है और न नरक है। सभी परंपरागत धार्मिक साहित्य अहंकारी मूर्खों की करतूत है। प्रकृति, जो मूल उद्गम स्रोत है, और काल, जो संहारक है—"ये ही सर्वोपरि नियंता हैं। मनुष्यों को सुख या दु:ख बांटते समय न तो उनके पुण्यों पर ध्यान देते हैं, न पापों पर।" (एम. एन. राय द्वारा रचित 'मैटिरियलिज्म'-77-78)

लोकायत, बौद्ध, जैन, सांख्य, वैशेषिक, न्याय आदि की गहराई से छानबीन करने पर यह बात साफ तौर पर प्रकट हो जाती है कि भारतीय दर्शन में संवादात्मकता व विवादास्पदता इतनी स्पष्ट और असंदिग्ध है कि उसको मात्र आध्यात्मवादी बता देना महज धोखेबाजी के और कुछ नहीं है। इसके विपरीत यह मान लेना कि प्राचीन भारतीय दर्शन वैज्ञानिक भौतिकवाद का स्पष्ट स्वरूप था—एक दूसरे प्रकार की भ्रांत धारणा को पुष्टि करना होगा। जब हमें भारतीय दर्शन के प्राचीन स्वरूप पर विचार

करना हो, तो हमें यह स्वीकार करना ही उपयुक्त होगा कि प्राचीन भौतिकवाद और प्राचीन आदर्शवाद के बीच अनवरत संघर्ष चलता रहा है और इसी संघर्ष के माध्यम से समूचे भारतीय दर्शन का विकास हुआ है। इसी संघर्ष को दिखाया है— एम. हिरियन्ना, डॉ. एस. राधाकृष्णन, राहुल सांकृत्यायन, एम. एन. राय, एस. ए. डांगे, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, जवाहरलाल नेहरू, के. दामोदरन और सरदेसाई आदि ने। विस्तृत अध्ययन से इसकी पुष्टि की जा सकती है।

इतिहास का आदिकाल दर्शन का भी आदिकाल है। समीकरण बनता है—मनुष्य : उपकरण निर्माण प्रक्रिया : उपयोग अर्थात् मनुष्य: श्रम: चेतना, फिर चेतना, मनुष्य और श्रम। मनुष्य हैं तो उसकी आवश्यकताएं—रोटी, कपड़ा, आवास आदि हैं, आवश्यकताओं का दबाव श्रम की ओर मोड़ दिखाता है, श्रम उपकरण पैदा करता है और उपकरण से उत्पादन या माल—चाहे धरती पर अनाज के रूप में हो या स्वयं उपकरण (मशीन या फैक्ट्री) पर। उत्पादन प्रक्रिया में अन्तर्निहित है और तकनीकी विकास चेतना के विकास को प्रभावित करता है। विकास प्रक्रिया के दौर में चेतना तकनीकी विकास को प्रभावित करती है। अत: मनुष्य: श्रम चेतना और श्रम मनुष्य का अंत:संबंध व्यवहार और विचार का अथवा विचार और व्यवहार का अंत:संबंध बन जाता है और उनका अंतर्विरोध व्यवहार और विचार का या कि विचार और व्यवहार का अन्तर्विरोध बन जाता है। यहीं से अंत:संबंध और अंतर्विरोध एक साथ चलते हैं और वर्गभेदी समाज का व्यवहार और चिंतन द्वन्द्वात्मक होकर टकराने की स्थिति में आ जाता है। मानव समाज का भौतिक और चेतना विषयक विकास इसी द्वन्द्वात्मक गतिशीलता की अभिव्यक्ति है।

भारतीय इतिहास और साथ ही उसका चिंतन इस उपर्युक्त अंत:संबंध और अंतर्विरोध की प्रक्रिया के दौर से गुजरता हुआ आज की वर्तमान स्थिति तक पहुंचा है। आदिकालीन सामुदायिक मनुष्य के भौतिक और चेतनिक विकास में मिस्र, यूनान, भारत और चीन सभी को लगभग उन्हीं समरूपा मंजिलों में से ही गुजरना पड़ा है।

वर्गरहित सामुदायिक व्यवस्था में आदिम साम्यवादी व्यवहार और चेतना थी किन्तु भारतीय समाज में वर्ण विभाजन और वर्ग विभाजन के आंरभ के साथ दार्शनिक चेतना में भी विभाजित चेतना का अन्तर्द्वन्द्व दिखाई देने लगा था।

दासप्रथा में—
(1) आर्य-अनार्य चेतना
(2) स्वामी-दास चेतना
(3) उच्चवर्ण-नीचवर्ण चेतना
(4) आदर्शवादी (कल्पना या भावना प्रधान)-भौतिकवादी चेतना
(5) वैदिक रहस्यवाद-वैदिक प्रकृतिवाद

(6) वैदिक उपनिषदिक अविज्ञानवाद-
आयुर्वेदिक औषधि विज्ञानवाद

(7) अज्ञेयवाद, अंधविश्वासात्मकता-
वस्तुगत यथार्थवाद

(8) उपनिषदिक आध्यात्मवाद-उपनिषदिक
भौतिकवाद

(9) एकेश्वरवाद, ईश्वरवाद-बहुदेववाद,
अनीश्वरवाद

सामंतवाद में— उपर्युक्त दास प्रथा के अन्तर्विरोधों के साथ नीचे लिखे अंतर्विरोध और जुड़ गए—

(10) वेदान्त-लोकायत, जैन, बौद्ध, आयुर्वेद

(11) कर्मकांडवाद-कर्मकांड निषेध

(12) अद्वैतवाद-विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत,
शुद्धाद्वैत, सांख्य, योग, वैशेषिक और न्याय

(13) अस्तित्ववाद-अनस्तित्ववाद, परिवर्तनवाद

पूंजीवाद में— (14) यांत्रिक भौतिकवाद-वैज्ञानिक भौतिकवाद

(15) आध्यात्मवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद-
द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद

समाजवाद— (16) काल्पनिक, भाववादी, आदर्शवादी या
लोकतांत्रिक समाजवाद वैज्ञानिक और
द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक समाजवाद एवं
वैज्ञानिक साम्यवाद

भारतीय दर्शन के उपर्युक्त अन्तर्विरोध और द्वन्द्व न केवल भारतीय दर्शन के ही अन्तर्विरोध और अन्तर्द्वन्द्व हैं, अपितु बतौर नामांतर और रूपांतर के दुनिया भर के दर्शनों में इसी प्रकार के अन्तर्विरोध और अन्तर्द्वन्द्व रहे हैं और हैं। दर्शन चाहे किसी भी क्षेत्र का है, वह आपस के आदान-प्रदान से ही विकसित हुआ है और आगे भी होगा, अत: इसका स्वरूप क्षेत्रीय होने के साथ-साथ सार्विक या वैश्विक भी होता है। राहुल सांकृत्यायन ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' की भूमिका में इसी की ओर संकेत करते हुए कहा है— ''विश्वव्यापी दर्शन की धारा को देखने से मालूम होगा, कि वह राष्ट्रीय की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय ज्यादा है। दार्शनिक विचारों के ग्रहण करने में उसने कहीं ज्यादा उदारता दिखलाई, जितना कि धर्म ने एक दूसरे देश के धर्मों को स्वीकार करने में। यह कहना गलत होगा कि दर्शन के विचारों के पीछे आर्थिक प्रश्नों का कोई लगाव नहीं था, तो भी धर्मों की अपेक्षा बहुत कम एक राष्ट्र के स्वार्थ को दूसरे पर लादना

चाहता रहा, इसीलिए हम जितना गंगा, आमू-दजला और नालंदा-बुखारा-बगदाद कार्दोवा का स्वतंत्र स्नेहपूर्ण समागम दर्शनों में पाते हैं, उतना साइंस के क्षेत्र से अलग कहीं नहीं पाते।'' तथा '' - दर्शन के क्षेत्र में राष्ट्रीयता की तान छेड़ने वाला खुद धोखे में है और दूसरों को धोखे में डालना चाहता है।

यूनानी अद्वैतवाद, द्वैतवाद, बुद्धिवाद-तर्कवाद, सूफीवाद, यथार्थवाद, वस्तुवाद और भौतिकवाद, इस्लामी सूफीवाद या रहस्यवाद-वस्तुवाद, यूरोपीय अद्वैत भौतिकवाद, अद्वैत विज्ञानवाद, द्वैतवाद, संदेहवाद, अज्ञेयवाद, द्वन्द्ववाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणाओं की अन्तर्वस्तु का भारतीय वेदांत के द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि लोकायत-चार्वाक भौतिकवाद तथा अनीश्वरवाद, बौद्ध का सत्कार्यवाद और जैन का अनेकांतवाद, सांख्य-योग-वैशेषिक-न्याय का तत्वज्ञान मीमांसक भौतिकवादी आदर्शवाद, भक्तिकालीन सूफीवाद और आधुनिक कालीन चिंतकों के आदर्शवादी, भौतिकवादी और द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवादी अवधारणाओं की अन्तर्वस्तु का समन्वित और समालोचनात्मक अध्ययन करने पर यह भली प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है कि अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक आचार-विचार में आदान-प्रदान की प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती चली आ रही है वैसे ही दार्शनिक प्रवाह में भी समसामयिक समग्र धाराओं का संगम अनवरत रूप से चलता चला आ रहा है। अतः यहां दर्शन को पवित्रतावादी, पृथकतावादी, विशिष्टता या सर्वोत्कृष्टतावादी अथवा यूरोपीयवादी या भारतीय राष्ट्रवादी संकीर्ण सीमाओं में कुंठित नहीं किया जा सकता।

वैदिक काल के साहित्य में ऋत अर्थात् आदिम साम्यवादी समाज की स्मृति के भरपूर उल्लेख प्राप्त होते हैं। तब से लेकर शंकराचार्य के समय तक भारतीय समाज में जो भी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन होते रहे हैं उन्होंने हमारे वैचारिक उतार-चढ़ावों को भी भली प्रकार प्रभावित किया है, यहां परस्पर प्रतिबिंबन की प्रक्रिया भी चलती रही है और कुछ और अधिक गहराई से अध्ययन करें तो भौतिकवाद को भाववाद से संघर्ष करते हुए ही पाएंगे। इस संघर्ष में तार्किक व वैज्ञानिक दृष्टि से भारतीय भौतिकवादी भाववादियों की तुलना में कहीं काफी बढ़-चढ़ कर थे। आध्यात्मवादी अंश्रद्धा और वेद प्रामाण्य में ही चक्रित रहते थे, तो इनसे मुकाबला करने वाले भौतिकवादी प्रत्यक्ष अनुभव, उस पर आधारित अनुमान और कार्य-कारण पर संपादित तर्कसंगत प्रमेयों को लेकर आक्रामक तेवर से प्रहार करते थे। आध्यात्मवादी वर्णव्यवस्था को भगवान की देन और वेद प्रमाणाधारित सत्य स्वीकार करते थे और शूद्रों पर उच्चवर्णीय अत्याचार को जायज ठहराते थे, तो भौतिकवादी साफ तौर पर बिना किसी लाग-लपेट के वर्णव्यवस्था का डट कर विरोध करते थे

और जातिगत ऊंच-नीच को व्यवस्थाजन्य विकृति करार देकर उसकी धज्जियां उड़ाते थे।

आदर्शवाद या भाववाद अथवा आध्यात्मवाद हमेशा मिथक, अनुश्रुति एवं रहस्यवाद के कल्पना शिखर से ही बड़बोलापन करता है। वह धरती की वास्तविकताओं से मुंह फेर लेता है, लेकिन जब हकीकतें आकर सामने चुनौतियां खड़ी कर देती हैं तो वह अपने चेहरे को बचा कर मैदान से भाग जाता है। उसकी प्राचीनता का मोहांध या पुराणपंथी अहंकार उसे उबरने में साथ नहीं देता। क्योंकि प्राचीन सभ्यता व संस्कृति को तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य में न समझ सकने वाले ये दकियानूसी और दंभी इन्हें आकाशीय वरदान समझते हैं। जब प्राचीन पुरातात्विक अनुसंधानों और तथ्यों के आधार पर यह साबित हो जाता है या कि भौतिकवादी यह सिद्ध करने में सफल हो जाते हैं कि जिन लोगों ने हमारी भारतीय सभ्यता और संस्कृति का जो इतना विशाल प्रासाद खड़ा किया, वे सब लोग हाड़-मांस और रक्त से बने हुए मरणशील स्त्री-पुरुष थे। वे भी सुख-दुख, आनन्द-संताप, आशा-निराशा और सफलता-असफलता का वैसा ही अनुभव करते थे, जैसा कि आज हम करते हैं। वे कोई चमत्कारी देवी-देवता नहीं थे। वे इसी दुनिया के रहने वाले थे, जो प्राकृतिक सामाजिक नियमों से संचालित हो रही है। वे न तो सर्वज्ञ थे और न ही सर्वशक्तिमान। वे वर्तमान मनुष्यों की तरह ही गुणों और अवगुणों या कमजोरियों से भरपूर थे। इस यथार्थ का साक्षात्कार होने पर उन मिथ्याभिमानियों के पास खोखले गाल बजने के अलावा कुछ भी शेष नहीं रहता।

आज जब हम भारतीय दर्शन के इतिहास को विश्वदर्शन के इतिहास के उस महत्वपूर्ण घटक के रूप में देखते हैं जिसमें यथार्थ पर आधारित उन प्रगतिशील और जीवंत प्रवृत्तियों को पूर्ण स्पष्टता और तर्कसंगति के साथ दर्शाया गया है, जिन्हें विश्व के अन्य देशों के दार्शनिकों ने भी उसी तरह समान रूप में दर्शाया है, तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारत में भी दार्शनिक विचारों का विकास एक नियमानुशासित परिघटना है जो अंततः समाज के आर्थिक-सामाजिक आधार के विकास एवं गतिविधियों द्वारा प्रभावित व संचालित है।

निस्सन्देह भारत की वैचारिक धरोहर अत्यंत समृद्ध है। उस पर गर्व करने का हमारा अधिकार है और उसके संरक्षण का दायित्व भी। किन्तु जैसा कि लेनिन ने कहा कि किसी धरोहर को सुरक्षित रखने का अर्थ उस धरोहर से बंधे रहना कदापि नहीं होता बल्कि उसकी विकासशील प्रवृत्ति की सुरक्षा के लिए अवरोधक और प्रतिगामी तत्वों के खिलाफ संघर्ष करना, वैचारिक जीवंतता और प्रगतिशील वस्तुगत सत्य को बचाने के लिए संघर्ष करना भी होता है और साथ ही उसे द्वन्द्वात्मक पद्धति से विकसित करने के लिए रचनाशील होना होता है। हम यदि संघर्ष और नवसृजन को साथ लेकर आगे बढ़ने की शक्ति अर्जित न कर पाए, तो इतिहास का यह समकालीन अध्याय

अवरुद्ध हो जायेगा और भावी पीढ़ियों की परेशानियां बढ़ जायेंगी

इस बात को हमेशा याद रखना होगा कि चिंतन के क्षेत्र में भाववादी (आदर्शवादी या आध्यात्मवादी) उस कपूत की तरह होते हैं जो दार्शनिक संपदा को सुरक्षित और अधिक विकसित करने की बजाय सर्वतोभावेन उसका दुरुपयोग करके समापन की ओर धकेल देंगे, क्योंकि उनमें न तो संरक्षण और न ही विकसित करने की वैचारिक क्षमता और जीवंत दृष्टि ही होती है। वे अवरोधक हैं और रहेंगे। इसलिए हमें भौतिकवादियों को तो संघर्षरत और सृजनशील होकर ही उन्हें परास्त करते जाना होगा।

संघर्ष और सृजन के लिए भौतिकवादी दृष्टिकोण का अपनाना जितना आवश्यक स्वयं के लिए होता है उतना ही दूसरों को अपनी सृजनशीलता और साथ ही तदनुकूल आचरण द्वारा भौतिकवादी उपकरण का अथवा साहित्यिक दार्शनिक रचना का प्रस्तुतीकरण भी आवश्यक होता है। यहां जिस व्यक्ति का नाम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, वह है एस. ए. डांगे। डांगे अपने आचरण से स्वतंत्रता सेनानी तथा श्रमिक वर्ग को संगठित करने और उसके लिए संघर्ष करने वाले नेता थे और लेखक के रूप में उन्होंने 'भारत: आदिम साम्यवाद से दासप्रथा तक का इतिहास' लिखकर भौतिकवादियों को भाववादियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए एक उपकरण या हथियार दे दिया। उदाहरणस्वरूप वैदिक काल के प्रसिद्ध विधिकर्म 'यज्ञ' को ले सकते हैं। 'यज्ञ' के निम्नांकित उद्धृत दो प्रकार के अर्थों की ओर ध्यान आकृष्ट करना उपयुक्त होगा—

यज्ञ—'इज्यते हविर्दीयतेऽत्र, इज्यते देवता अत्र इति वा य ज् इति न ङ। (413/3/00) पौराणिक अर्थ (कालिका पुराण के अनुसार)—जिसमें सभी देवताओं का पूजन अथवा घृतादि द्वारा हवन हो उसे यज्ञ कहते हैं—('यज्ञेषु देवतास्तिष्ठन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्')। और यज्ञ पृथ्वी को धारण किए हुए है, यज्ञ ही प्रजा को पापों से बचाता है (यज्ञेन ध्रियते पृथ्वी यज्ञस्तारयति प्रजा:)। सभी यज्ञ सात्विक, राजसिक और तामसिक प्रकार से विभाजित हैं।

यज्ञ का यह पौराणिक अर्थ है जिसे भाववादी जिस रूप में समझते, समझाते और उपयोग में लाते हैं।

वस्तुगत अर्थ (डांगे के अनुसार)—एस.ए. डांगे ने अपनी ऐतिहासिक कृति 'भारत : आदिम साम्यवाद से दासप्रथा तक का इतिहास' (56) में 'यज्ञ' को अपने मूल अर्थ में इस प्रकार परिभाषित किया—'यज्ञ' शब्द वास्तव में एक शब्द नहीं है वरन् एक वाक्य है। इस वाक्य के तीन अंश हैं—य ज और 'न'। य अथवा 'इ' धातु का अर्थ जाना या एकत्र होना है। 'ज' का अर्थ पैदा करना या उत्पादन है। 'न', अन्,-अन्त', ये तीन प्रत्यय धातुओं के अन्य पुरुष बहुवचन के रूप में लगाये जाते हैं।

सब मिलाकर वाक्य का यह अर्थ है कि 'वे आपस में मिलते हैं और उत्पन्न करते हैं'। क्या उत्पन्न करते है ? वस्तुएं और संतान उत्पन्न करते हैं। इससे आगे डांगे ने 'यज्ञ' में परवर्तन के कारण की ओर संकेत करते हुए लिखा—"इसलिए आर्यों ने जब तक निजी संपत्ति वर्ग और शासन सत्ता को जन्म नहीं दिया था, उस समय तक की उनकी प्रणाली सामूहिक उत्पादन प्रणाली का नाम 'यज्ञ' है। और जैसे ही निजी संपत्ति, वर्ग और शासन सत्ता का जन्म हो गया वैसे ही सत्र और क्रतु यज्ञ का अस्तित्व मिट गया। उसके बाद में जिस यज्ञ का अस्तित्व रहा वह सिर्फ शुद्ध विधिकर्म, पूजा अथवा सामाजिक स्मृति का एक रूप मात्र थी।" इत्यादि।

इस प्रकार वैचारिक संघर्ष के लिए चेतना-उपकरण तैयार करने में डांगे की तरह राहुल सांकृत्यायन, प्रोफेसर कोसांबी, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, एस. जी. सरदेसाई. के. दामोदरन, ई. एम. एस. नंबूदिरीपाद, हीरेन मुखर्जी, भगवतशरण उपाध्याय, यशपाल तथा बीसवीं सदी के अन्य मार्क्सवादी चिंतकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इनके लिए स्रोत उपलब्ध कराए एस. राधाकृष्णन, एम. हिरियन्ना, एस. एन. दासगुप्ता, एम. एन. राय, सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय और धीरेन्द्रदत्त आदि ने। जवाहरलाल नेहरू ने 'हिन्दुस्तान की खोज' और 'विश्व इतिहास की झलक' लिखकर वैचारिक संघर्ष को आगे बढ़ाने में उल्लेखनीय कार्य किया। भारत के अनेक कवियों-शायरों, गीतकारों, उपन्यासकारों-कथाकारों, लेखकों और पत्रकारों ने पंडितों, मुल्ला-मौलवियों, आध्यात्मवादियों, धार्मिक पाखंडियों के खिलाफ अभिव्यक्तजन्य क्रियाकलापों और विचारों के द्वारा मुकाबला करने में कहीं कोई कसर नहीं छोड़ी। दरअसल आधुनिक भारत में लोकतंत्रात्मक, धर्मनिरपेक्षतात्मक और समाजवादी मूल्यों के संरक्षण और संवर्द्धन में ऐसे दार्शनिक विचारकों, इतिहासकारों, साहित्यकारों, राजनेताओं, सांस्कृतिक कर्मियों और वैज्ञानिकों ने ही आगे बढ़कर चुनौतियों के उत्तर दिए हैं, जो मार्क्सवादी या वामोन्मुखी विचारों से लेस थे। इसके लिए उन्हें आर्थिक, सामाजिक और खुद अपने शारीरिक-मानसिक या पारिवारिक कष्टों को झेलना पड़ा, किन्तु उन्होंने न तो समझौते किए और न ही पांव पीछे हटाए। यहां तक कि कइयों ने तो न केवल अपनी जान की बाजी लगा दी, अपितु अपनी जान कुर्बान भी कर दी। सफदर हाशमी की शहादत को कौन भुला सकता है। चाहे रुश्दी हो, तस्लीमा नसरीन हो, चाहे अरुन्धती राय हो या महाश्वेता देवी, रामविलास शर्मा हो, या भीष्म साहनी या नामवरसिंह इत्यादि सभी इस संघर्ष की कड़ियां हैं। यह आलेख भी इसी का एक बिन्दु है।

"हमारा वैचारिक संघर्ष' शीर्षक रचना में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक और विचारक डॉ. खगेन्द्र ठाकुर ने 'संघर्ष का ऐतिहासिक अनुभव' इस तरह रेखांकित किया है--

'जातिप्रथा के खिलाफ संघर्ष का ऐतिहासिक अनुभव भी भारतीय जनता के पास है। प्राचीन काल में महात्मा बुद्ध ने वैदिक कर्मकांड के खिलाफ संघर्ष किया, सामाजिक विभेद और उत्पीड़न के खिलाफ भी संघर्ष किया, लोगों में समानता का भाव जगाया। वर्द्धमान महावीर के नेतृत्व में जैनियों ने भी उन्हीं दिनों इस दिशा में कुछ योगदान किया। ब्राह्मणवाद के खिलाफ सबसे अधिक वैचारिक संघर्ष प्राचीन काल में ही लोकायतिकों (चार्वाक दर्शन के मानने वालों) ने किया। मध्य काल मे भक्ति आन्दोलन ने जातिप्रथा, जातीय श्रेष्ठता, ऊंच-नीच के भेदभाव, सामाजिक विषमता आदि पर जोरदार हमला किया, जनता को इनके खिलाफ जगाया और समानता पर आधारित राजनीतिक विकल्प के बारे में भी एक हद तक सोचा। आधुनिक युग में आर्य समाज ने, स्वामी विवेकानंद जैसे वैज्ञानिक एवं सामाजिक चिंतनवाले मानवतावादी संन्यासियों ने जाति-प्रथा और भेदभाव पर आधारित शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष को आगे बढ़ाया।''

क्या स्वामी विवेकानंद का यह कथन इस वैचारिक संघर्ष का एक ज्वलंत आह्वान नहीं है ?—''मैं उस भगवान या धर्म पर विश्वास नहीं करता, जो न विधवाओं के आंसू पोंछ सकता है और न अनाथों के मुंह में एक टुकड़ा रोटी ही पहुंचा सकता है। दुखी लोगों की सहायता करने में विश्वास करता हूं और दूसरों को बचाने के लिए मैं नरक तक जाने के लिए भी तैयार हूं। ऐ बच्चो! सबके लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो—गरीब, मूर्ख, पददलित मनुष्यों के दुख को तुम अनुभव करो, संवेदना से तुम्हारे हृदय की क्रिया रुक जाए, मस्तिष्क चकराने लगे।''

''भारत को उठाना होगा, गरीबों को खिलाना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पौरोहित्य की बुराइयों को ऐसा धक्का देना होगा कि वे चकराती हुई एकदम एटलांटिक महासागर में जा गिरें। ब्राह्मण हो या संन्यासी, किसी भी बुराई को क्षमा न मिलनी चाहिए। पौरोहित्य की बुराइयों और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नाम-निशान न रहे। सबके लिए अन्न अधिक सुलभ हो जाए और सबको अधिकाधिक सुविधा मिलती रहे।''

यह दर्शन के ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद का एक प्रबल पक्ष है जिसमें उसी तत्वज्ञान की सीमाओं में ही उलट-पलट कर नहीं परखा गया है, बल्कि उसे चिन्तन के सामाजिक सरोकार के रूप में देखा गया है, उसकी सर्तकता को जांचा गया है और वर्गीय कसौटी पर कसा गया है। यह चेतना वर्गीय समाज और वर्गसंघर्ष की भागीदारी नहीं बन सकती तो उसे केवल विश्वविद्यालयी प्राध्यापक की कसरत के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता। भारत में वैचारिक द्वन्द्व की नींव तो उपनिषद् काल में ही पड़ गई थी जब याज्ञवल्क्य को गार्गीय या गार्गेयी के सवालों ने परेशानी में डाल दिया था।

भारतीय दर्शन का विकास ही दार्शनिक पद्धतियों के शास्त्रीय संवादों, पक्ष-प्रतिपक्षों अथवा वाद-विवादों में से ही हुआ है। भारत का ही क्यों विश्व का समूचा दार्शनिक चिंतन ही प्रश्न-प्रतिप्रश्न, उत्तर-प्रत्युत्तर सवाल-दर-सवाल जवाब-दर-जवाब, वर्गीय संबंध अथवा वर्गहित चिंतन, अस्ति-नास्ति, पदार्थ-अपदार्थ, यथार्थ-शून्य और तत्वतः भौतिक और आध्यात्मिक के द्वन्द्वात्मक दौर से गुजरते हुए विकसित हो सका है। दर्शन न तो कभी इतिहास-निरपेक्ष रहा है और न ही समाजनिरपेक्ष। उसके लिए पदार्थ प्राथमिक है, किन्तु उससे विकसित व्यक्तिगत और समाजगत चेतना भी (द्वितीयक होते हुए भी) कम महत्त्वपूर्ण नहीं, क्योंकि इन्द्रियानुभव के आधार के बिना उसके अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसके अलावा आज तो दर्शन इतना विज्ञान सापेक्ष हो गया है, अथवा विज्ञानमय ही होता जा रहा है तो उसके स्वामित्व और गैर स्वामित्व, उपयोग और उपभोग तक की समस्याएं उपस्थित होने लगी हैं। स्वसंचलन, कंप्यूटरीकरण, रोबोटीकरण, क्लोनकरण, अंतरिक्षिकी आदि के युग की सोच-समझ के बदलते हुए बिन्दु और बदलते जाते परिवेश, परिप्रेक्ष्य और नवसंघर्ष की गतिविधियों के संदर्भ में चिंतन के नये आयाम दिखाई देने लगे हैं।

जहां माल, बाजार, सूचना, संचार, विज्ञान आदि एक ओर चिंतन को झकझोर रहे हों और दूसरी ओर अमीरी और गरीबी, विकसित-अविकसित राष्ट्र, एकाधिकारवाद और अधिकारविहीनता तथा यथार्थता और स्वप्निलता की विषमताएं विद्यमान होकर ज्ञानात्मक संतुलन को डगमगा रही हों—वहां आकाशीय उड़ानों या संन्यस्त तटस्थता अथवा दर्शन की निरपेक्षता का निर्वाह नहीं किया जा सकता, न ही किया जाना अपेक्षित है। क्या यहां फिर हमें वैचारिक संघर्ष की अनिवार्यता का एहसास नहीं होता?

'20वीं सदी में भारत पर एक नजर' (14) में इन पंक्तियों के लेखक ने लिखा था—"20वीं सदी दूसरी सहस्राब्दि का चरमोत्कर्ष है, जिसने विश्व के भूगोल, इतिहास, अर्थ, विज्ञान, राजनीति, समाज, संगठन, साहित्य, कला, संगीत, संस्कृति, सभ्यता और यहां तक कि व्यक्ति के सोच एवं उसकी संवेदनशीलता तक को अभूतपूर्व सुर्खियों में अभिरंजित कर दिया है। रचना और विध्वंस दोनों की सीमाओं को असाधारण व्यापकता का अवसर मिला है। प्रवृत्तियों और निवृत्तियों के द्वन्द्व ने अवरोधों में से नई राहों को प्राप्त करने में कामयाबियां हासिल कर ली हैं।" यहां इसी सदी के वैचारिक द्वन्द्व की ओर संकेत करने की आवश्यकता है जिसने दो विश्वयुद्धों की पृष्ठभूमि तैयार की थी। इस विश्वव्यापी विचार संघर्ष ने भारत के दार्शनिक द्वन्द्व को भी उसी तरह से प्रभावित किया जैसे अन्य दूसरे देशों के वैचारिक टकरावों को।

बीसवीं सदी के आरंभ में भारत में मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा की स्थापना के साथ सांप्रदायिक कट्टरता की अवधारणाओं का पुनरोत्थान हो गया। [illegible]

जेम्स मिल की रचना 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया' ने नस्लवादी आधार पर इतिहास लेखन का काल निर्धारण आरंभ किया, तब से भारतीय इतिहास को 'हिन्दू सभ्यता', 'मुस्लिम सभ्यता' और 'ब्रिटिश सभ्यता' (तात्पर्य ईसाई सभ्यता) जैसे तीन संप्रदायों के आधार पर विभाजित किया जाने लगा। बाबूराव सावरकर की रचना 'राष्ट्रमीमांसा' और विनय दामोदर सावरकर की रचना 'हिन्दुत्व' के आधार पर आगे चलकर गुरु गोलवलकर ने 'हम अथवा हमारा परिभाषित राष्ट्रवाद' (We or our Nationhood defined) की रचना की जो हिन्दू नस्लवादियों की पाठ्यपुस्तक बन गई। इसमें आर. एस. एस. को हिटलर के नाजीवादी दर्शन से शिक्षा लेने की वकालत करते हुए कहा गया है—

"अपनी नस्ल तथा संसकृति की शुद्धता की रक्षा करने के लिए देश से सामी नस्ल का, यहूदियों का सफाया करके जर्मनी ने सारी दुनिया को स्तंभित कर दिया था। यहां नस्ली गौरव के चरमोत्कर्ष की अभिव्यक्ति हुई है। जर्मनी ने यह भी दिखा दिया है कि बुनियादी भिन्नताओं वाली नस्लों और संस्कृतियों का एकीकृत समग्रता में घुलमिल जाना लगभग असंभव ही है। यह हम हिन्दुस्तान के लोगों के लिए एक अच्छा सबक है कि उससे सीखें और लाभ उठाएं।"

फासिज्म और नाजीज्म के नस्लवाद के आधार पर संगठित हिन्दूवादी और इस्लामवादी संस्थओं की पुनरावर्तनवादी धारणाओं ने राष्ट्रवादी, धर्मनिरपेक्षतावादी, लोकतंत्रात्मक और वामपंथी चिंतन के सामने कई चुनौतियां पैदा कर दीं। इससे वैचारिक संघर्ष तीव्रतर होता गया और दो विश्वयुद्धों में और उनके बाद की परिस्थितियों में उसने सांप्रदायिक झगड़ों के रूप में लाखों-करोड़ों निरपराधों को मौत के घाट उतार दिया। दूसरे विश्वयुद्ध की एक परिणति हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणविक बमों का वह विध्वसंकारी आक्रमण था जिसने क्षणभर में महाविनाश का दृश्य उपस्थित कर दिया।

बीसवीं सदी की सारी घटनाओ पर विचार करने मे स्वभावत: इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि वैचारिक संघर्ष, जो एक मानसिक धरातल या चेतना के स्तर पर संवाद से, उपनिषद् से अथवा पास बैठकर पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष या वाद-प्रतिवाद से शुरू होकर जब सांप्रदायिक कट्टरता या नस्ली जहर के रूपों में दंगों, युद्धों या विश्वयुद्धों का आकार ग्रहण कर लेता है तो वह दर्शन या चिंतन से परे हटकर जांगल हिंसक प्रवृत्ति या बर्बर मानसिकता की झोली में जा बैठता है। बीसवीं सदी के इतिहास की यह क्रूर विडंबना भी है।

फिर भी वैचारिक द्वन्द्व की यह वीभत्सतम प्रतिमा अंततः पराजित, विखंडित एवं विनष्ट प्राय: होकर भूतकाल के गर्भ में समा जाती है या इतिहास के पन्नों में समेट दी जाती है। संवाद या संश्लेषण के धरातल पर आकर फिर से मंथन या आत्ममंथन आरंभ होता है।

बीसवीं सदी में भारत में भी अन्य देशों की तरह एक ओर प्रत्ययवाद (आत्मवाद, नस्लवाद, आदर्शवाद, भववाद, चेतनावाद, अस्तित्ववाद, पुनरुत्थानवाद जैसे किसी नामधारीवाद) की पक्षधरता रही है तो दूसरी ओर उससे टकराने या उससे संघर्ष करने वाली चिंतन पद्धति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मकवाद ऐतिहासिक भौतिकवाद (मार्क्सवाद) की सक्षमता रही है। बीसवीं सदी में सर्वत्र मार्क्सवाद और मार्क्सवाद विरोध एक केन्द्रीय विचार संघर्ष रहा है और संभवत: आगे भी तब तक जारी रहेगा, जब तक वर्गहीन समाज अस्तित्व में नहीं आएगा।

इतिहास साक्षी है कि दार्शनिक और सामाजिक विचारों के बीच टकरावों का मूल कारण उत्पादन-संबंधों में विषमता का होना है, किन्तु कुछ ऐसे कारण भी हैं जो दूसरे नंबर पर हों, लेकिन उपेक्षणीय कत्तई नहीं हैं। इन्हीं के कारण कट्टरवादियों और उदारतावादियों, प्रतिगामियों और प्रगतिशीलों तथा दक्षिणपंथियों और वामपंथियों में लगातार संघर्ष चलते रहे हैं। प्रतिगामी, प्रतिक्रियावादी, कर्मकांडी, सांप्रदायिक तथा संकीर्ण व्यक्ति शोषकवर्ग व उच्चवर्ग के जरखरीद गुलाम एवं भाड़े के विचारक होते हैं। वे अपने आकाओं की स्वार्थपूर्ति के लिए षड्यंत्र करते और उन साजिशों को कामयाब करने के लिए अपने विरोधी को नुकसान पंहुचाने और मारने तक का काम करते-कराते हैं और दार्शनिक, वैचारिक एवं साहित्यक रचनाओं की पांडुलिपियों को चुराने, उन्हें नष्ट करने, उनमें क्षेपक जोड़ने, उनकी दकियानूसी व्याख्या करने, उनके खिलाफ नीचे स्तर का प्रचार करने और बस चले तो उन्हें प्रतिबंधित करवाकर लेखक के खिलाफ फतवे जारी करवा देने जैसी हरकतें करते हैं। इस तरह के काम आज से नहीं, संस्कृति के आरंभिक काल से चलते रहे हैं।

दार्शनिक स्तर पर देखें तो सबसे घिनौना और पहला आक्रमण लोकायत पर किया गया और उसके मूलपाठ को ही नष्ट कर दिया गया। लगभग तीन हजार साल पहले यह साजिश की गई तो बाद की ऐसी नीच हरकतों का तो कहना ही क्या। सांख्य में क्षेपक जोड़कर उसका रूप वदलने की चेष्टा की गई। बौद्ध, जैन, वैशेषिक, न्याय और योग के साथ भी ऐसा ही हुआ। कहते हैं भक्तिकाल के महाकवि तुलसीदास के साथ भी ऐसा ही हुआ। तुलसी ने जब रामचरित मानस की रचना अवधि प्रधान हिन्दी में की तो कर्मकांडी पंडितों ने साजिशाना तरीके से पांडुलिपि को चुरा कर जला दिया और प्रचारित कर दिया कि रामकथा को संस्कृत में न लिख कर तुलसी ने भगवान राम का अपमान किया है। तुलसी ने जब उसकी दुबारा रचना की तो उन्हें लिखना पड़ा—'का भाषा, का संस्कृत, प्रेम चाहियत सांच' तथा राम चरितमानस में सज्जनों के साथ ऐसे असज्जनों की भी वंदना करनी पड़ी—'वंदों संत असज्जन चरणा, दुखप्रद उभय बीच कछु वरणा' क्योंकि ये असज्जन—''जे विनु काज, दाहिने वांए' अर्थात् अकारण कष्टकारक बन जाते हैं।

क्षेपक घुसेड़ने, मूल पाठ में परिवर्तन और व्याख्याओं और भाष्यों में अर्थान्तरण जैसे कार्य स्वयं ने किए या करवाए गए कर्मकांडियों, पुरोहितीवृत्ति वालों, आध्यत्मवादियों, कट्टर वेदान्तियों, ईश्वरवादियों, राजाओं-महाराजाओं के चाटुकार पंडितों, विद्वानों और कवियों के द्वारा। यह काम केवल भारतीय दर्शन के साथ ही किया गया। दूसरे देशों में ऐसा नीच कार्य नहीं किया गया। भारतीय दर्शन में संप्रदाय पद्धति के कारण ही ऐसा संभव हुआ। इन ईश्वरवादियों का उद्देश्य था भारतीय दर्शन से भौतिकवादी तत्वचिंतन को नष्ट करके उसे पूरी तरह पुरोहितवादी या प्रत्ययवादी बना देना या सिद्ध करना। सांख्य से सांख्यत्व को गौण बनाकर उसे पुरुष (चेतना) को प्राथमिक तत्व में ढाल देना और तत्ववादी कपिल को विष्णु का अवतार बता देना और गीता के भगवान कृष्ण से यह कहलवा देना कि "मैं मुनियों में कपिल मुनि हूं" अर्थात् कपिल मेरा ही अवतार है। अब सांख्य को तत्ववादी या भौतिकवादी कौन कहेगा, जब कोलायत में या कपिलायत में मंदिर स्थित कपिल की पूजा-अर्चना होने लगी और हर वर्ष हजारों साधु मोडों का मेला लगने लगा जिसमें भक्तों, राजनीतिज्ञों, पाखंडियों व आम लोगों के जमावड़े होने लगे। यही हाल बुद्ध के साथ हुआ जिसे पंडितों ने विष्णु का अवतार बना दिया। यह दुष्प्रवृत्ति आज भी अपना कार्य कर रही है। आर. एस. एस. की पुत्री भाजपा के षड्यंत्रकारी डाक्टर मार्का केन्द्रीय मंत्री इतिहास की प्रामाणिकताओं, उसके स्रोत ग्रंथों, मूलपाठों और अध्यायों में फेर-बदल, काट-छांट, जोड़-तोड़ करवाकर उनका सांप्रदायिकीकरण करने में लगे हुए हैं। वे कुंठितवृत्ति हिन्दूवादियों को इतिहास पुरुष बनाकर प्रतिष्ठापित करने जा रहे हैं। वे गांधी के गोली मारने वाले को महिमामंडित करते जा रहे हैं। बाबरी मस्जिद को तोड़ने वाले उनके वीर कारसेवक हैं। स्टेंस को उसके बच्चों सहित जला डालने वाले उनके लिए धर्मात्मा व पूज्य हैं। वे इतने नीच हैं कि एक हाथ से गांधी के गोली मारेंगे, दूसरे हाथ से आरती उतारने का पाखंड करेंगे।

क्या इस इक्कीसवीं सदी में दार्शनिक अवधारणाओं के रुख को लेकर कुछ कहा जा सकता है? आज जब आर्थिक विषमता तीव्रतर हो रही है, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन स्तर क्रूर असमानता के दौर से गुजरने को विवश है, विज्ञान और तकनीकी ज्ञान नई ऊंचाइयों को स्पर्श करने लगे हैं, अंतरिक्ष अनुसंधान आश्चर्यजनक परिणाम प्रस्तुत कर रहे हैं और सूचना तंत्र राष्ट्रीय संकुचन को तार-तार कर रहा है और सापेक्षवाद भी आशंका से घेरा जा रहा है—तो ऐसे में अनुमान को किस अन्तर्वस्तु पर आधारित किया जा सकता है? पांच और पच्चीस का तत्वज्ञान दर्शन के इतिहास में समा चुका है। रचयिता, ईश्वर, अवतार, परमतत्व, शून्य आदि बहुत पीछे छूट गए। एकांत चिंतन और दर्शन विरल और न्यूनतम उपयोग के होने लगे हैं। तात्विक विश्लेषण के उपकरण बदल चुके हैं। ऐसे में कौनसे संकेत बिन्दु चयनित किए जा सकते हैं जिनसे चिन्तन की सार्थकता की पहचान की जा सके?

दर्शन के पहले और सबसे मुख्य सवाल को लें कि सृष्टि की संरचना में प्राथमिक तत्व क्या है अर्थात् प्राथमिक पदार्थ है या चेतना? तो अब यह पूरी तरह साफ तौर पर और अंतिम रूप से तय हो चुका है कि संपूर्ण सृष्टि पदार्थ से विकसित है, चेतना भी पदार्थ द्वारा विकसित है। अतः इस प्राथमिकता के प्रश्न पर माथापच्ची करने की कोई गुंजायश नहीं। इस पदार्थमय सृष्टि का रचयिता न तो कोई ब्रह्म, ईश्वर या परम चेतना तत्व है और न ही कोई अज्ञेय अस्तित्व। पदार्थ ही पदार्थ का या सारे जगत का विकास है। अर्थात् पदार्थेतर कुछ भी नहीं—'एंटीमैटर' भ्रामकता मात्र है। न कोई सृष्टिकर्ता है और न ही कोई पदार्थेतर नियंता। अतः भावी दार्शनिक, चिंतक या विचारक और इतिहासकार परमसत्ता या ईश्वर को दर्शन का विषय नहीं बनाएगा। इस पर कोई बहस भी नहीं छिड़ेगी। ईश्वर या ईश्वरवाद मूर्ख, अंधविश्वासी, कट्टर जड़मति व भेड़चाल की अंधी आस्था का जुनून मात्र बना रह जायगा। दर्शन, विज्ञान, और इतिहास ने उसे विचारणीय विषय की क्रमणिका से परे फेंक दिया है। अतः दर्शन के लिए प्रत्ययवाद के विकास की कोई संभावना नहीं दिखाई देती। क्योंकि दर्शन विज्ञान के साथ इतनी घनिष्ठता के साथ जुड़ गया है कि वह अधिकाधिक भौतिकवाद पर आधारित होकर विकसित होता चला जायगा, जैसा कि इस समय हो रहा है। उसकी तर्कसंगति विज्ञानपरक होती जा रही है जिसका पदार्थनिरपेक्ष चेतना के साथ कोई तालमेल नहीं। वैसे भी पदार्थनिरपेक्ष या समाजनिरपेक्ष चेतना होती भी नहीं, हो भी नहीं सकती । यदि फिर भी इसके होने की कल्पना की जाती है तो वह पागलपन ही कहलाएगा।

इससे जुड़वां मुद्दा है इस सारे अस्तित्व को समझ सकने का—सृष्टि की ज्ञेयता का। स्वसंचलन, रोबोटीकरण, कंप्यूटर, सूचनातंत्र और क्लोनिंग के आरंभिक दौर के इस युग में मनुष्य अज्ञान और अज्ञेयता के अंधकार को पीछे धकेलता हुआ ज्ञेयता के नये आयाम खोजता चला जा रहा है अर्थात् उसकी दिशा 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की है, ज्ञेयता की ओर बढ़ने की है। स्वभाव से प्रगतिशील होने की वजह से अज्ञेयता को असंभव करार देने की ओर अग्रसर है। ज्ञेयता पदार्थमय होती है। दार्शनिक ज्ञेयता को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं। अतः हमारी वैचारिक यात्रा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी मार्ग पर ही संभावित है। यह नियति नहीं है, नियतिवाद भी नहीं—यह वैज्ञानिक ऐतिहासिक प्रक्रिया है।

मानव जीवन खड़ा है अपनी भौतिक और मानसिक आवश्यकताओं पर। मोटे तौर पर मनुष्य समाज विकसित होता है अपनी वैज्ञानिक और वैचारिक गतिशीलता पर। यहां आकर हम विज्ञान, दर्शन और इतिहास के परिप्रेक्ष्य में सोचने लगते हैं। विज्ञान अपने भौतिक, रासायनिक, जैविक और सामाजिक प्रयोगों में अपनी पहल को दर्ज करवाता है। दर्शन सैद्धांतिक अवधारणाएं देकर दिशाओं का निर्देशन करता

है और इतिहास अनुभवों का संचय कर विकासार्थ स्रोत मुहैया करने का कार्य करता है। इन तीनों में ऐसा जुड़ाव है कि इनमें से किसी एक को अलग करने से समाज का ताना-बाना टूट-बिखर जाता है। ये तीनों भौतिक हैं जो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में गतिशील हैं। विज्ञान का मूल विश्लेषण, वर्गीकरण और संश्लेषण में अन्तर्निहित है। इसी में उपकरण निर्माण और उपकरण विकास चलता रहता है । इसी में उत्पादन पद्धति का राज है। उत्पादन पद्धति इतिहास को बढ़ाती है। दर्शन भी विश्लेषण, वर्गीकरण और संश्लेषण में से विचारों का विकास करता है और सारी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, गतिविधियां इन्हीं से संपृक्त होकर अस्तित्व को प्रतिबिम्बित करती हैं।

पहले की तरह धर्म और दर्शन का एकत्व नहीं रहेगा और न ही दर्शन और धर्म का। धर्म आस्था का विषय है, पूजापद्धति की क्रिया। वह संप्रदायों में बंटा हुआ है, संप्रदायों के भीतर उपसंप्रदायों और उपसंप्रदायों के भी छोटे-छोटे टुकड़े संप्रदायों में। धर्म के लिए ईश्वर, देवता, पैगंबर, या गुरु की अनिवार्यता होती है, किन्तु दर्शन में आरंभ से ही ईश्वर के अस्तित्व या उसके प्रति आस्था की अनिवार्यता कभी नहीं रही। धर्म से अफीम का काम किया जा सकता है, दर्शन से नहीं। धर्म की अपेक्षा दर्शन सत्ता निरपेक्ष रहा है और रहेगा। दर्शन जनतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष हो सकता है, जबकि धर्म सांप्रदायिक और संकीर्ण होता है। धर्म का दार्शनिक विवेचन और समीक्षण हो सकता है, दर्शन का धार्मिक विश्लेषण कल्पनातीत है। धर्म नितांत असहायों को राहत या तिनके का सहारा दे सकता है, दर्शन अस्थायी राहत के लिए नहीं होता। धर्म व्यक्ति की आंतरिक आस्था का विषय है, दर्शन व्यक्ति की मानसिक चेतना या मस्तिष्कीय सक्रियता का। धर्म जड़त्वोन्मुख होता है, दर्शन विकासोन्मुख।

धर्म की तरह नीति भी दर्शन के साथ एकत्व स्थापित नहीं कर सकती। नीति आचरण निर्देशिका होती है, दर्शन किसी आचरण-प्रतिबद्धता को स्वीकार नहीं करता। नीति और दर्शन में सार्विकता और सार्वजनिकता की समानता हो सकती है, किन्तु एकमेकता नहीं। नीति उपदेशात्मक होती है, जिज्ञासात्मक नहीं, जबकि दर्शन उपदेशात्मक नहीं होता, जिज्ञासात्मक होता है। नीति बहस के लिए कम गुंजायश छोड़ती है, जबकि दर्शन बहस के बिना अपना अस्तित्व ही कायम नहीं करता । धर्म की तरह नीति भी विज्ञान अथवा मनोविज्ञान की अपेक्षा नहीं रखती, इसकी बजाय वह इनके विपरीत भी हो सकती है, किन्तु दर्शन तो विज्ञान और मनोविज्ञान के सापेक्ष तो होता ही है, अपितु इनसे घनिष्ठ रूप से संबंधित भी होता है । नीति नियामक और नियंत्रक होती है तथा विधिविधानों में उसकी प्रमुख भूमिका होती है, जबकि दर्शन प्रत्यक्षत: न तो नियामक होता है, न ही नियंत्रक और विधिविधानों में भी उसकी भूमिका गौण ही होती है। नीति मंगल-अमंगल, अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, नायक-

खलनायक आदि विपरीतों का मानदंड निर्धारित करती है, सजा और पुरस्कार तय करती है, जबकि दर्शन के लिए निर्धारण करना अनिवार्य नहीं होता।

दर्शन की अन्तर्वस्तु है सृष्टि की रचना में तात्विक प्राथमिकता का विवेचन। तत्वों का वर्गीकरण, विश्लेषण और उनके सापेक्ष अन्यों के संबंधों का उद्घाटन। दर्शन प्रकृति और मनुष्य के हर प्रकार के विकास और उसकी मंजिलों को परिभाषित और व्याख्यायित करता है। इस जगत का, ब्रह्मांड का कोई पहलू इसकी परिधि से बाहर नहीं जा सकता। इसीलिए हम कहते हैं कि दर्शन सर्वव्यापी, सार्विक और सर्वकालिक प्रणाली है। प्रकृति विज्ञान, भौतिकी, रसायन, जीव विज्ञान और समाजशास्त्र के तो अपने दर्शन होते ही हैं, अर्थात् उनकी सैद्धांतिक धारणाएं तो उनकी चिंतनधाराएं होती ही हैं, साथ ही जब हम विज्ञान, मनोविज्ञान, चिकित्सा, धर्म, नीति, जाति, जातीयता, राष्ट्रीयता, युद्ध, अहिंसा, राजनीति, उद्योग, कृषि, संसद और मतदान अर्थात् छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु या अवस्तु तक का तार-तार कर खुलासा करते हैं या उसका तात्विक विवेचन करते हैं तो वह उसका दर्शन कहलाने लगता है, जैसे—विज्ञान दर्शन, मनोविज्ञान दर्शन, समाज दर्शन, धर्म दर्शन, नीति दर्शन, कृषि दर्शन, जीवन दर्शन, यौन दर्शन, अहिंसा दर्शन, युद्ध दर्शन अथवा यूरोपीय दर्शन, यूनानी दर्शन, भारतीय दर्शन या वैदिक दर्शन, सांख्य दर्शन आदि। तात्पर्य यह कि प्रत्येक अस्तित्व का जब तात्विक या सैद्धांतिक विवेचन किया जाय तो वह दर्शनमय हो जाता है। प्रत्येक अनुभवजन्य ओर अनुभवातीत इकाई भी दार्शनिकता में समाविष्ट की जा सकती है।

निश्चय ही दर्शन व्यवहार पक्ष को प्रभावित करता है। कोई भी सिद्धांत व्यवहार निरपेक्ष, गतिरहित या द्वन्द्वरहित अथवा बिना अंतर्विरोधों के न तो रहा है और न ही आगे रहेगा। आदिकाल से ही कोई भी व्यवहार सिद्धांत निरपेक्ष, भीतर और बाहर के टकरावों से रहित न तो पूर्व में संभव हो चुका है और न आगे ही संभव रहेगा। इसके साथ यह भी यथार्थ है कि व्यवहार और सिद्धांत या सिद्धांत और व्यवहार एक दूसरे को प्रभावित करते हुए स्वयमेव अपने-आपको विकसित करते हैं और करते रहेंगे। सिद्धांत और व्यवहार की यह विकासोन्मुख गतिशीलता आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का कारक रही है और रहेगी। अत: दर्शन प्रकृति और मनुष्य समाज के प्रत्येक रूपांतरण का मूक दर्शन न रह कर उसका साक्षी, विवेचक, विश्लेषक बनकर उसका अभिन्न साथी रहेगा। भारतीय दर्शन भी इसका अपवाद नहीं होगा।

विविध विषयों के विज्ञान और उनके दर्शन का सहमेल ही इस भौतिक और वैचारिक जगत का संभावित युग होगा।